Registration No. V-36244/2008-09 **ISSN :- 2395-0390**

The journal has been listed in 'UGC Approved List of Journals' with Journal No. – 48402 in previous list of UGC

JIFE Impact Factor – 7.21

Varanasi Management Review

A Multidisciplinary Quarterly International Peer Reviewed Referred Research Journal

Editor in Chief
Dr. Alok Kumar
Associate Professor & Dean (R&D)
School of Management Sciences
Varanasi

Volume - XII **No. - 1** **(Jan. – Mar.) 2026**

(Part – II)

Published by
Future Fact Society
Varanasi (U.P.) India

Varanasi Management Review - **A Multidisciplinary Quarterly International Referred Research Journal**, *Published by : Quarterly*

Correspondence Address :
C 4/270, Chetganj
Varanasi, (U.P.)
Pin. - 221 010
Mobile No. :- 09336924396
Email- vnsmgrev@gmail.com

Note :-

The views expressed in the journal "Varanasi Management Review" are not necessarily the views of editorial board or publisher. Neither any member of the editorial board nor publisher can in anyway be held responsible for the views and authenticity of the articles, reports or research findings. All disputes are subject to Varanasi (Uttar Pradesh) Jurisdiction only.

Managing Editor
Avinash Kumar Gupta

©Publisher

ISSN : 2395-0390

Printed by
Interface Computer, B 31/13-6, Malviya Kunj, Lanka, Varanasi-221005 (U.P.)

ADVISORY BOARD

- **Prof. T. N. Singh,** School of Plant Sciences, Haramaya University, Ethiopia (Africa)
- **Prof. S.K. Bhatnagar,** School for Legal Studies, BBAU, Lucknow
- **Prof. (Dr.) Munna Singh**, Head of Department, Physical Education and Sports Sciences Department, Handia P.G. College, Handia, Prayagraj, U.P.
- **Dr. Saumya Singh,** Associate Professor, Department of Management Studies, Indian School of Mines, Dhanbad
- **Dr. Mrinalini Pandey,** Associate Professor, Department of Management Studies, Indian School of Mines, Dhanbad
- **Dr. Achchhe Lal Yadav**, Assistant Professor, Physical Education, Pt. D. D. U. Government Degree College, Saidpur, Ghazipur
- **Dr. Aditya Kumar Gupta,** Assistant Professor, School of Management Sciences, Varanasi
- **Dr. Abhishek Sharma,** Assistant Professor, Department of Hindi, Ravenshaw University, Cuttack
- **Dr. A. Shanker Prakash,** Assistant Professor, School of Management Sciences, Varanasi
- **Dr. Anil Pratap Giri,** Assistant Professor, Department of Sanskrit, Pondicherry Central University, Pondicherry.

EDITORIAL BOARD

- **Dr. Sanjay Singh,** Department of Plant Science, University of Gondar, Ethiopia (Africa)
- **Dr. Diwakar Pradhan,** Professor in Nepali, Head, Deptt. of Indian Languages Faculty of Arts, Banaras Hindu University, Varanasi
- **Dr. Nagendra Kumar Singh,** Professor, Department of Journalism & Mass Communication, Mahatma Gandhi Kashi Vidyapith, Varanasi.
- **Dr. Manish Arora,** Associate Professor, Faculty of Visual Arts, Banaras Hindu University, Varanasi
- **Dr. Surjoday Bhattacharya,** Assistant Professor, Government Degree College, Pratapgarh U P
- **Dr. Upasana Ray,** Associate Professor, National Council of Educational Research and Training, New Delhi
- **Dr. Krishna Kant Tripathi,** Assistant Professor, Deptt. of Education, Central University of Mijoram, Mijoram
- **Dr. Urjaswita Singh,** Assistant Professor, Department of Economics, M.G. Kashi Vidyapith, Varanasi.
- **Dr. Santosh Kumar Singh,** Assistant Professor, P.G. Department of Psychology, J.P. University. Chapra
- **Dr. Ramkirti Singh,** Assistant Professor, Department of Psychology, Gorakhpur University, Gorakhpur
- **Dr. Girish Kumar Tiwari,** Assistant Professor, National Council of Educational Research and Training, New Delhi

- **Dr. Ranjeet Kumar Ranjan,** Assistant Professor, Department of Psychology, J.P. College, Narayanpur, Bihar
- **Dr. Paromita Chaubey,** Faculty of Education, Banaras Hindu University, Varanasi

EDITOR'S NOTE

It is a great honour to me to extend my warm greetings and welcome you all to the journal, **Varanasi Management Review,** a refereed journal of multi disciplinary research. The journal, which is a peer-reviewed, will devote to the promotion of multi-disciplinary research and explorations to the South Asian and global community. It is our objective to provide a platform for the publication of new scholarly articles in the rapidly growing field of various disciplines. We are trying to encourage new research scholars and post graduate students by publishing their papers so that they may learn and participate in literary publishing through a professional internship. Scholarly and unpublished research articles, essays and interviews are invited from scholars, faculty researchers, writers, professors from all over the world.

Note: All outlook and perspectives articulated and revealed in our peer refereed journal are individual responsibility of the author concerned. Neither the editors nor publisher can be held responsible for them anyhow. Plagiarism will not be allowed at any level. All disputes are subject to Varanasi (Uttar Pradesh) Jurisdiction only.

Hoping all of you shall enjoy our endeavors and those of our contributors.

Editor

CONTENTS

"Varanasi Management Review"

➲	मुंगेर का इतिहास एवं संस्कृति : एक ऐतिहासिक अध्ययन ***अंकित कुमार*** ***प्रो. (डॉ.) दीनेश प्रसाद कमल***	01-04
➲	महिलाओं की आर्थिक स्थिति पर स्व–रोजगार एवं आजीविका मिशन (NRLM/JEEVICIA) का प्रभावः बिहार के विशेष संदर्भ में ***मुकेश कुमार*** ***डॉ. अखिलेश पाल***	05-17
➲	आचार्य धनंजय एवं आचार्य धनिक की दृष्टि में साधारणीकरण ***डॉ. सत्येन्द्र कुमार सिंह***	18-20
➲	भारत एवं दक्षिण पूर्व एशिया के मध्य संबंधों के विभिन्न आयामः एक अध्ययन ***आनन्द कुमार सिंह***	21-25
➲	राज्यपाल बनाम निर्वाचित सरकार तथा सुप्रीम कोर्ट के निर्णय : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन (हालिया विवाद 2023–2025) ***दीपक कुमार***	26-31
➲	एक कहानी यह भी का शिल्प विधान ***बैजू कुमार राम*** ***डॉ. रामदुलार साहनी***	32-35
➲	आषाढ़ का एक दिन : कथ्य–विधान ***निभा कुमारी***	36-41
➲	1956 ई. के बाद भारत में राज्यों का पुनर्गठन : राजनीतिक, भाषाई एवं प्रशासनिक परिप्रेक्ष्य में अध्ययन ***अनिल कुमार सिंह***	42-46
➲	बंगाल में नील आन्दोलन और निलहों का बिहार में प्रवेश ***अजीत कुमार***	47-51
➲	आर्थिक सशक्तिकरण में मनरेगा की भूमिका : एक विश्लेषण ***डॉ. सुनिता कुमारी***	52-56
➲	सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा का संवेदनात्मक अध्ययन ***अमित कुमार***	57-61
➲	समकालीन कहानी में वर्ग संघर्ष ***मुकेश कुमार***	62-65
➲	प्रेमचंद की कहानियों में निम्नवर्गीय किसान जीवन का यथार्थ ***डॉ. आनंद कुमार गोंड***	66-71
➲	लोककथाओं में कल्पना एवं लोकचेतना ***नम्रता अलेन्द्र*** ***डॉ. दीपशिखा पटेल***	72-75

मुंगेर का इतिहास एवं संस्कृति : एक ऐतिहासिक अध्ययन

अंकित कुमार*
प्रो. (डॉ.) दीनेश प्रसाद कमल**

मुंगेर (मशहूर मोंगुर) उत्तर मुगलकाल में एक मजबूत किले के कारण सुरक्षा के दृष्टिकोण से सुरक्षित एवं प्रसिद्ध था। मीर कासिम अंग्रजी ईस्ट इंडिया कंपनी के माँगों से विवश होकर उससे पृथकता के प्रयास में तथा अपने को सुरक्षित करने के लिए बंगाल की राजधानी 1762 ई0 में मुर्शिदाबाद से बदल कर मुंगेर कर दिया।[1] स्वतंत्र अस्तित्व के लिए प्रयासरत हुआ। मंगेर प्राचीन काल से औपनिवेशिक काल के प्रारंभ तक कई बार राजधनी के रूप में स्थापित रहा है। अगर मुंगेर (मशहूर मोंगुर) का इतिहास का अवलोकन किया जाए तो इसका कालक्रम प्राचीन काल तक (पाषाण काल) जाता है। औपनिवेशिक लेखकों के अनुसार मुंगेर (मशहूर मोंगुर) मध्य–देस की पहली आर्य जनसंख्या के "मिडलैंड" के रूप में बन गया था । इसे मॉड–गिरि के रूप में महाभारत में वर्णित स्थान के रूप में पहचाना गया है, जो वेंगा और तामलिपता के पास पूर्वी भारत में एक राज्य की राजधानी हुआ करती थी। महाभारत के दिग्विजय पर्व में, हमें मोडा–गिरि का उल्लेख मिलता है, जो मोडा–गिरी जैसा दिखता है। दिग्विजय पर्व बताता है कि शुरुआती समय के दौरान यह एक राजशाही राज्य था। सभा–पर्व की एक पंक्ती में पूर्व भारत में भीम का विजय का किया गया है जहा और कहां गया है कि कर्ण, अंग के राजा को पराजित करने के बाद, उन्होंने मोदगिरि में लड़ाई लड़ी और इसके प्रमुख को मार दिया यह बुद्ध के एक शिष्य, मौदगल्य के रूप में जाना जाता था, जिन्होंने इस स्थान के समृद्ध व्यापारियो को बौद्ध धर्म में परिवर्तित किया था। बुकानन कहते हैं कि यह मुग्गला मुनि का आश्रम था और मुदगल ऋषि की यह परंपरा अभी भी बनी हुइ है।[2]

मुंगेर को देवपाला के मुंगेर कॉपरप्लेट में "मोदागिरि" कहा गया है। मुंगेर (मंगहिर) नाम की व्युत्पत्ति ने बहुत अटकलों का विषय पाया है। परंपरा शहर की नींव चंद्रगुप्त को बताती है, जिसके बाद इसे गुप्तागर नामक नाम दिया गया था जो वर्तमान किले के उत्तर–पश्चिमी कोने में कष्टहरनी घाट पर एक चट्टान पर लिखा गया था। यह जोर दिया गया है कि मुदगल ऋषि वहां रहते थे। ऋषि ऋग्वेद के ऋषि मुदगल और उनके कबीले के दसवें मावदला के विभिन्न सूक्तर की रचना के रूप में परंपरा का वर्णन करता है। हालांकि, जनरल कन्निघम को सशक्त संदेह था जब वह इस मूल नाम मोन्स को मुंडा के साथ जोड़ते हैं, जिन्होंने आर्यों के आगमन से पहले इस हिस्से पर कब्जा कर लिया था। फिर श्री सी.ई.ए. ओल्डहैम, आईसीएस,कलेक्टर मुनिघीया की संभावना को इंगित करता है। अर्थात, मुनि के निवास, बिना किसी विनिर्देश के बाद जो बाद में मुंगीर को बदल कर बाद में मुंगेर बन गया। इतिहास की शुरुआत में, मुंगेर अंग के साम्राज्य का हिस्सा था।[3]

पर्जिटर के अनुसार, अंग भागलपुर और मुंगेर कमिश्नर के आधुनिक जिलों में शामिल हैं। एक समय में अंग साम्राज्य में मगध के अंतर्गत आ गया। शांति–पर्व भी एक अंग राजा को संदर्भित करता है, जो विष्णुपाद पर्वत पर बलिदान करता था। महाकाव्य की अवधि में एक अलग राज्य के रूप में उल्लेख मोदगिरी मिलती है। अंग की सफलता लंबे समय तक नहीं थी और छठी शताब्दी बीसी के मध्य के बारे में थी। कहा जाता है कि मगध के बिम्बिसार ने प्राचीन अंग के आखिरी स्वतंत्र शासक ब्रह्मादत्त को मार दिया था। इसलिए अंग मगध के बढ़ते साम्राज्य का एक अभिन्न अंग बन गया। गुप्तकाल के एपिग्राफिक स्रोत बताते हैं कि मुंगेर गुप्त के अधीन थे। बुद्धगुप्त (447–495 ई) के शासनकाल में ई०488–489 की तांबे की थाली मूल रूप से जिले में मंडपुरा में पाया जाता था।[4]

मुंगेर के संबंध में विदेशी यात्रियों का विवरण भी प्रप्त होता है। जिसमें ह्वेन सांग का यात्रा विवरण महत्वपुर्ण है। हालांकि जिले का पहला ऐतिहासिक लेखन ह्वेन सांग के ट्रेवल्स अकाउन्ट में दिखाई देता है, जो सातवीं शताब्दी के पहले छमाही के निकट इस क्षेत्र का दौरा किया था। ह्वेन सांग ने माना, "देश

* शोधार्थी, UGC- NET, JRF इतिहास विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना
** प्राध्यापक, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना

नियमित रूप से खेती करता है। उदार लोग अनुकूल और सभ्य है। लगभग 4000 पुजारी और कुछ ब्राह्मणवादी मंदिरों के साथ 10 बौद्ध मंदिर हैं।''[5]

ह्वेन सांग के यात्रा विवरण में "आई–लान–हा–पो–फा–टू" देश इस क्षेत्र के रूप में पहचाना जाता था। उन्हें हिरण्यपर्वत के देश में घने जंगल और अजीब पहाड़ों से गुजरना पड़ता था। राजधानी हिरण्यपर्वत, गंगा के दक्षिणी किनारे पर है, और इसे के करीब, हिरण्य खड़ा, जिसने "धुआं और वाष्प को सूर्य और चंद्रमा के प्रकाश को ढंक दिया था।" इस पहाड़ी की स्थिति गंगा से निकटता से तय की जाती है, ताकि वह मुंगेर हो। यद्यपि अब कोई भी शिखर के किसी भी चोटी से धुआं और वाष्प नहीं आता है, फिर भी पहाड़ियों में कई गर्म पानी के झरने प्रसिद्ध ज्वालामुखीय की ओर इशारा करते हैं। ह्वेन सांग के यात्रस विवरण में हॉट स्प्रिंग का भी उल्लेख किया गया है। जनरल कनिंघम ने भीमबांध और उसके शाखाओं वाले हॉट स्प्रिंग्स की पहचान की। अन्य अधिकारियों ने वर्तमान लखीसराय जिले में उरैन के रूप में इसका उल्लेख किया है।[6]

दुर्भाग्यवश, लगभग दो सदियों का एक ऐतिहासिक अंतर के बाद हमें 780 के बारे में मुंगेर कापर प्लेट आफ देवपाला में ताजा उल्लेख मिलता है। हम इस कापर प्लेट से धरमपाल के बारे में (770–810सी0 ई0) में जानते हैं जो कन्नौज से भी दूर पूरे हिमालय के तराई में धर्मपाल सैन्य अभियान को संदर्भित करता है। कन्नौज के लिए, राष्ट्रकूट और गुर्जर–प्रतिहारों के बीच त्रिपक्षीय संघर्ष उत्तरी भारत के इतिहास में एक प्रमुख कारक था। हम पाला राजा गोपाल, उनके पुत्र धरमपाल और देवपाला का उल्लेख करते हैं। मुंगेर की प्रमुखता भी बेगुसराय के नवलगढ़ शिलालेखों द्वारा पुष्टि की गई है। मुगलर में निष्पादित नारायण पाल की भागलपुर प्लेट, उनकी धार्मिक सहिष्णुता की नीति को दर्शाती है और वहां शिव और शक्ति संप्रदायों के भक्तों को संरक्षण प्रदान करती है।[7]

भारत में तुर्की शासन के आगमन के बाद तक मुंगेर मिथिला के कर्नाटक वंश के प्रभाव में था। हालांकि बखियार खिलजी ने इस क्षेत्र पर ई 1225 में अधिकार कर लिया। इस प्रकार मुंगेर ने खिलजी शासक ग्यासूद्दीन के कब्जे में संघर्ष और बाद में एक शांति संधि के बाद मुंगेर 1301–1322 के बीच बंगाल के सुल्तान के नियंत्रण में आए, जिसको लखीसराय शिलालेख द्वारा पुष्टि की गई है। मुंगेर मुहम्मद बिन तुगलक के कब्जे में आया जो मुंगेर मे कुछ समय तक दिल्ली से शासन करता था। 1342 में उत्तर भारत के पूरे उग्रवाद और बंगाल के स्वर्गीय अंतराल इलियाश शाह ने बिहार के अवसरों का लाभ उठाते हुए बिहार पर अपना प्रभाव स्थापित किया। बंगाल सुल्तान का एक दिलचस्प वर्णन लखीसराय में अभी भी मौजूद है। शिलालेख 1297 के मुताबिक एक तारीख का उल्लेख हैं जिसमें राकमुद्दीन कलावो (1296–1302 सी0ई0) और एक गवर्नर शाही फेरे हितगिम का उल्लेख है। इस प्रकार दिल्ली और बंगाल सुल्तान के तुगुलक और जौनपुर के शर्की शासको के संघर्ष में मुंगेर के कुछ जौनपुर के शर्की के कब्जे में आया था।[8]

मुगलकाल में मुंगेर मुगलों के आधिपत्य मे रहा। 1659 में दाउद खान बिहार प्रांत के प्रभारी थे। मीर जुमला और प्रिंस मुहम्मद ने शुजा को मुंगेर तक पीछा किया। 1659 में मुंगेर को छोड़ने के लिए खड़गपुर के राजा बिहरुज खान और बीरभूम के ख्वाजा कमल के विश्वासघात ने शुजा को मजबूर किया था। यह इस संबंध में था कि राजा बिहरुज को मुंगेर के पूरे क्षेत्र का प्रभार बनाया गया था। हमें राज्यपाल इब्राहिम खान के शासनकाल के दौरान एक अचेतन अकाल का उल्लेख भी मिलता है जो 1670–72 से जारी किया गया था। डच यात्री, दे ग्रैफ, जो 1670 के नवंबर में मुंगेर से पटना तक यात्रा करते थे, सेनिक यातनाओं भयानक चित्र प्रस्तुत करते हैं। मार्शल ने मुंगेर के बारे में बहुत दिलचस्प विवरण का भी उल्लेख किया।[9]

आर हेबर के यात्रा में अपनी पुस्तक "भारत के ऊपरी प्रांत (1827)'' के माध्यम से यात्रा की कथा में उल्लेख करते हैं कि मुंगेर अपने अच्छे जलवायु के लिए प्रसिद्ध था और वॉरेन हेस्टिंग्स ने भी वायुमंडल के हर्षजनक परिवर्तनों की बात बंगाल की तुलना मे की थी। हेबर ने आगे लिखा "मुंगेर एक शानदार प्रदर्शन पेश करता है । किला अब खत्म हो गया है। इसके द्वार, इसकी शस्त्रागार आदि सभी एशियाई वास्तुकला और मॉस्को के खितेरागोरोड के समान हैं। "मिस एमिली ईडन भी अंतर्देशीय तालिकाओं और बक्से से बहुत प्रभावित थी, ऐसी उत्सुक कारीगरी (मिस ईडन–अप द कंट्री मुंगेर गैजेटियर 1960 में उद्धृत) मिस ईडन की टिप्पणी को फैनी पार्क्स के लिखित रूप में भी प्रमाणित किया गया है। यूसुफ हूकर के अनुसार "अब तक सबसे खूबसूरत शहर, मुंगेर को इसके निर्माण के लिए माना जाता था, खासकर बंदूक से, जिसे बंगाल का बर्मिंगहम से तुलना की जानी चाहिए।[10]

जब हम मुगल काल के शुरुआती दौर में आते हैं तो हमें अबल फजल द्वारा तैयार की गई "आईन–ए–अकबारी" प्रसिद्ध किताब में जिले के कुछ संदर्भ मिलते हैं। इसके अनुसार मुंगेर सरकार में 31 महाल

या परगाना शामिल थे एवं 10,96,25981 बांधों (एक अकबर शाही रुपए के बराबर 40 बांध) के राजस्व का भुगतान करते थे। यह भी उल्लेख किया गया है कि सरकार मुंगेर ने 2150 घोड़े और 50,000 पैदल सैनिकों को प्रस्तुत किया। राजा मान सिंह जिन्हें बंगाल और उड़ीसा पर पुनः विजय पाई थी, वे कुछ समय के लिए मुंगेर के निवासी थे। औरंगजेब के शासनकाल के दौरान मुंगेर में कंगाल मुल्ला मोहम्मद सैयद की मौत, और दफन के साथ संबंध का उल्लेख हैं। अश्रफ अजरिम–उस–शाह, औरंगजेब के पौत्र, जो बिहार के राज्यपाल थे, के साथ खड़ा था। कवि अशरफ लंबे समय से जेबूनिशा बेगम के शिक्षक थे, औरंगजेब की बेटी, जो खुद कवि संप्रदाय थी। उनका 1704 में बंगाल से मक्का तक जाने के दौरान, मुंगेर में निधन हो गया, जहां उनकी कब्र अभी भी बताई गई है। निकोलस ग्राफे, एक डच चिकित्सक, जिसने सदी की शुरुआत में दौरा किया था, यहाँ की सफेद दीवार, टावर और मीनार को देखते ही रह गए थे। लेकिन 1745 तक जब मुस्तफा खान, एक विद्रोही जनरल अलिवर्दी खान ने उत्तर की ओर अपनी यात्रा में आगे बढ़ते हुए किला पर अधिपत्य कर लिया, जिसे राज्यपाल और उसके छोटे से सैनिकों ने कुछ रक्षा करने का प्रयास भी किया लेकिन बुरी तरह से विफल रहे।[11]

सफल होने वाले जोहान स्टेनलेस को मुंगेर का प्रभार दिया गया। ये वही था जिसने खड़गपुर राजा पर हमला करने का निर्देश दिया, जिन्होंने नवाब,मीर अली कासीम के अधिकार को झुठलाया था।

मुंगेर का आधुनिक इतिहास 1762 में फिर से प्रबलता में आया जब मीर अली कासिम ने इसे बंगाल के मुर्शिदाबाद की बजाय अपनी राजधानी बना दिया। नए नवाब ने अपने खजाने, हाथियों और घोड़ों को हटा दिया और इमाम बारा की स्वर्ण और चांदी की सजावट भी अपनी पुरानी राजधानी से हटा ली। उन्होंने इशाहान के एक अर्मेनियाई जनरल गौरी (ग्रेगरी) खान का समर्थन किया, सेना का पुनर्गठन किया और इसे ड्रिल कर सुसज्जित किया गया। उन्होंने अग्नि–हथियारों के निर्माण के लिए भी शस्त्रागार स्थापित किया और इसी समय से मुंगेर बंदूकों के निर्माण के लिए महत्वपूर्ण बान सका। यहां तक कि आज भी शानदार परंपराएं सैकड़ों परिवारों द्वारा संचालित की जा रही हैं जो बंदूकों के निर्माण में विशेषज्ञ हैं।[12]

मीर कासीम हफ्ते में दो दिन दर्शकों के एक सार्वजनिक हॉल में बैठते थे और व्यक्तिगत तौर पर न्याय करते थे। उन्होंने धैर्यपूर्वक सभी की शिकायतों को सुनी और उनके निष्पक्ष आदेश दिया। नवाब वास्तव में अपने दुश्मनों के लिए आतंक थे। उन्होंने शिक्षा विद्वानों को सम्मानित किया और उन्होंने निश्चित रूप से दोनों दोस्तों और दुश्मनों का सम्मान और प्रशंसा अर्जित की। दुर्भाग्य से, हालांकि, भाग्य ने उनकी सहायता नहीं की और मीर कासिम अली जल्द ही अंग्रेजी के साथ टकराव में आ गया। मीर कासिम और उनकी अंग्रेजों के साथ लड़ाई जिसकी परिणती बक्सर का युद्ध था।[13]

जिले के बाद के इतिहास ब्रिटिश प्रभुत्व के विस्तार के साथ अनजान है, मुंगेर शहर एक महत्वपूर्ण सीमावर्ती पद के रूप में समाप्त हो गया कोई शस्त्रागार नहीं था, कोई नियमित दुर्गरक्षक नहीं रखा गया था और दुर्घटना को अद्यतन करने के लिए कोई प्रयास नहीं किया गया था। हालांकि, मुंगेर अपनी अच्छी स्थिति और शांत हवा के लिए अभी भी महत्वपूर्ण था और ब्रिटिश सैनिकों के लिए अस्पताल के रूप में इस्तेमाल किया गया था। इसलिए यह एक महान रिसॉर्ट यह था। गंगा में यात्रा करने के लिए समुद्र यात्रा के रूप में स्वस्थ माना गया था। हम पाते हैं कि मुंगेर की यात्रा वॉरेन हेस्टिंग्स की पत्नी के लिए निर्धारित की गई थी जब वह बीमार हो गई थी और 1781 में जब वेरन हेस्टिंग्स बनारस में चेत सिंह से मिलने रास्ते में थे, तब उन्होंने अपनी पत्नी के स्वास्थ्य के लिए यहां अपनी पत्नी को छोड़ दिया। लेकिन 19वीं शताब्दी के शुरुआती दिनों में मुंगेर सिपाही के लिए एक पागल शरण के रूप में विकसित किया गया। यहाँ सेना के कपड़े के लिए एक डिपो भी था। यह ब्रिटिश सैनिकों के लिए एक अबैध स्टेशन बान गया। औपनिवेशिक प्रतिरोध के केन्द्र के रूप में मंगेर का योगदान रहा है। श्री कृष्ण सिंह और खादी आन्दोलन तथा महिलाओं की भूमिका महत्वपूर्ण रही है।

कला और संस्कृति

बिहार के गौरवशाली अतीत और सांस्कृतिक एकीकरण में मुंगेर का योगदान। यह अपनी ऐतिहासिक महत्व और अद्भुत सांस्कृतिक के लिए प्रसिद्ध है। कई क्षेत्रों में इसकी सांस्कृतिक मूल्यों के महान स्तरों का पता लगाया जा सकता है। प्राचीन काल से मध्ययुगीन और आधुनिक युग के आगमन तक, मुंगेर ने विभिन्न क्षेत्रों में बहुत अधिक उन्नति किया है।

इसकी समृद्ध अतीत और आधुनिक संस्कृति का एक स्थान है, मुंगेर ने अब भी सामाजिक और सांस्कृतिक समृद्धि का अत्यंत कायाकल्प संस्कृति देखी है। लोग उत्सुकता के साथ अपने धार्मिक और सामाजिक त्योहार मनाते हैं। हिन्दू, मुस्लिम, जैन, बौद्ध और अन्य धर्मों के विश्वासियों ने अपने धार्मिक त्योहारों को पूरी तरह से जोड़ों में मनाया है। होली, दिवाली, ईद और अन्य अन्य त्यौहारों का जश्न प्रेम, स्नेह,धार्मिक, सद्भाव और मानवता को दिखाने के लिए आम और महान अवसर हैं। लोग अपने धार्मिक धर्मों के बावजूद

त्यौहारों में भाग लेते हैं।इस क्षेत्र में लोगों को जश्न मनाते हुए सबसे प्रसिद्ध हारों में से एक है चतुथ पूजा, इसके अलावा हर साल कई पूजा और पूजा की जाती है। मुंगेर शक्त परंपरा का उपासना का केन्द्र रहर है। 'चंडी स्थान' में माँ पार्वती के आँख गिरा था।[16]

मुंगेर में धर्म

मुंगेर को बिहार में एक उल्लेखनीय गंतव्य माना जाना चाहिए क्योंकि यह आध्यात्मिक विरासत राष्ट्रीय और वैश्विक स्तर हासिल कर लिया है। आप इसलिए पवित्रता की भावना को विकसित करने के लिए इसे यथासंभव बेहतरीन तरीके से लाशने के लिए विकसित कर सकते हैं। इस क्षेत्र के हर हिस्से को अपनी कहानी सुनाई पड़ती है। प्राचीन मंदिरों से लेकर भव्य मस्जिदों और चर्च तक बिहार के इस हिस्से में आप और अधिक पा सकते हैं। सांस्कृतिक माहौल की भावना मुंगेर के आध्यात्मिक माहौल में देखी जा सकती है जहां हिंदू, मुस्लिम, जैन, बौद्ध धर्म और कई अन्य धर्मों के अनुयायियों एकजुटता में एक साथ रहते हैं। गंगा नदी के किनारे पर इसका स्थान धार्मिक रूप से महत्वपूर्ण है।[17]

मुंगेर में हस्तशिल्प

बिहार के अन्य हिस्सों की तरह, मुंगेर के लोग हमेशा अच्छे ड्रेसिंग बनाए रखते हैं। इसके सांस्कृतिक रूप से समृद्ध समाज के साथ, मुंगेर को अभी तक आधुनिक संस्कृति के द्वारा खराब नहीं किया गया है। महिलाओं को साड़ी पहने हुए देखा जा सकता है और इसलिए युवा लड़कियों के बीच आम सलवार सूट हो सकते हैं। लड़कों की पोशाक शर्ट पैंट और बूढ़े आदमी धोती–कुर्ता पहनते हैं। उनका ड्रेसिंग अर्थ उनके बारे में बताता है और विशेष रूप से निवासियों की सांस्कृतिक समृद्धि होती है। कोई व्यक्ति अपने ड्रेसिंग अर्थ से आसानी से लोगों को अलग कर सकता है, लेकिन साथ ही साथ यह विविधता में एकता बनाए रखने के लिए कुछ भी नहीं है। सांप्रदायिक सद्भाव बनाए रखने से लोग शांति में जीवन जीते हैं द्य हाल के दिनों में मुंगेर में जनता की जीवनशैली में कुछ बदलाव देखने को मिले हैं। इस क्षेत्र में कई स्थानीय हस्तशिल्प वस्तुओं का उत्पादन होता है और इस क्षेत्र में बिकता है। इस तरह के हस्तशिल्प इस क्षेत्र की स्थानीय परंपरा और संस्कृतियों को चित्रित करते हैं। शहरी क्षेत्रों में लड़कों और लड़कियों को जीन्स और शर्ट में देख सकते हैं। इस क्षेत्र में अधिकांश लोग हिंदी और स्थानीय बोलियों को बोलते हैं। अंग्रेजी और उर्दू भाषाओं के वक्ता भी यहां प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं।[18]

मुंगेर जिला का इतिहास एवं संस्कृति गौरवमयी रही है। अंग के रूप में विख्यात एवं शक्ति पीठ के रूप में विख्यात मुंगेर अपनी सांस्कृतिक धरोहर के लिए प्रसिद्ध है।

संदर्भ–

1. ओ मैले, मुंगेर डिस्ट्रिक्ट गैजेटियर, द बंगाल सेक्रेटियट बुक डिपो, कलकत्ता,1909
2. वही
3. वही
4. पी0सी0रायचौधुरी ,बिहार डिस्ट्रिक्ट गैजेटियर मुंगेर ,सुपिटेन्डेन्ट सेक्रेटियट बिहार, पटना, 1960
5. वही
6. वही
7. रत्नेश्वर मिश्रा , बिहार का बदलता भूगोल का इतिहास, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना 2020
8. वही
9. डॉ0 प्रमोदानंद दास एवं डॉ0 कुमार अमरेन्द्र ,बिहार : इतिहास एवं संस्कृति , लूसंन्ट, पटना 2007
10. वही
11. ओ मैले, पूर्वोक्त
12. वही
13. रत्नेश्वर मिश्रा, पूर्वोक्त
14. वही
15. वही
16. पी0सी0रायचौधुरी, पूर्वोक्त
17. वही
18. वही

◂◂ ▸▸

महिलाओं की आर्थिक स्थिति पर स्व–रोजगार एवं आजीविका मिशन (NRLM/JEEVICIA) का प्रभावः बिहार के विशेष संदर्भ में

मुकेश कुमार*
डॉ. अखिलेश पाल**

1 परिचय

भारत में ग्रामीण विकास ऐतिहासिक रूप से कृषि, असंगठित श्रम तथा लघु उद्योगों के इर्द–गिर्द केंद्रित रहा है, जहाँ महिलाएँ एक महत्वपूर्ण, किन्तु प्रायः अल्प–मान्यता प्राप्त श्रमशक्ति के रूप में कार्यरत रही हैं। महिलाओं के सशक्तिकरण पर विमर्श को बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विशेष महत्व प्राप्त हुआ, जब विद्वानों और नीति–निर्माताओं ने यह स्वीकार किया कि आर्थिक भागीदारी लैंगिक समानता तथा समावेशी विकास प्राप्त करने की एक मूलभूत राह है (Kabeer, 1999)। भारत में ग्रामीण महिलाएँ परंपरागत रूप से निर्वाह कृषि, घरेलू प्रबंधन तथा अनौपचारिक गतिविधियों में संलग्न रही हैं, परन्तु उन्हें ऋण, प्रशिक्षण एवं बाजार संपर्क जैसे संसाधनों तक सीमित पहुँच प्राप्त रही। फलस्वरूप, उनके योगदान को प्रायः कम आँका गया और उनकी आर्थिक क्षमता का पर्याप्त दोहन नहीं हो सका। इसी पृष्ठभूमि में, राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन (National Rural Livelihood Mission NRLM), जिसे बिहार में 'जीविका' के नाम से जाना जाता है, एक रूपांतरकारी नीतिगत हस्तक्षेप के रूप में उभरा, जिसका उद्देश्य स्व–रोजगार और आजीविका संवर्धन के माध्यम से महिलाओं की सामाजिक–आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करना है।

भारत सरकार द्वारा वर्ष 2011 में प्रारंभ किया गया यह मिशन, गरीबी उन्मूलन की कल्याणपरक पद्धति से सशक्तिकरण–उन्मुख दृष्टिकोण की ओर एक प्रतिमान परिवर्तन का द्योतक है। ग्रामीण महिलाओं को स्व–सहायता समूहों (Self & Help Groups SHGs) में संगठित कर यह मिशन सामाजिक पूँजी का निर्माण, वित्तीय समावेशन में सुधार तथा महिलाओं को आय–सृजनकारी गतिविधियों हेतु सक्षम बनाने का प्रयत्न करता है। बिहार में NRLM को 'जीविका' के नाम से संचालित किया जा रहा है, जो महिलाओं के सशक्तिकरण की एक अग्रणी पहल के रूप में स्थापित हो चुकी है तथा सामूहिक क्रियाशीलता में लाखों महिलाओं की भागीदारी सुनिश्चित कर रही है (World Bank, 2020)। पूर्ववर्ती गरीबी–उन्मूलन कार्यक्रमों के विपरीत, 'जीविका' अल्पकालिक लाभों की अपेक्षा समुदाय–आधारित संस्थाओं, क्षमता निर्माण तथा सतत आजीविका रणनीतियों पर बल देती है।

बिहार में NRLM/जीविका का महत्व अत्यधिक है। भारत के सर्वाधिक जनसंख्या वाले राज्यों में से एक बिहार की पहचान निम्न प्रति व्यक्ति आय, उच्च्य गरीबी दर तथा गहन लैंगिक विषमताओं के लिए की जाती है (Planning Commission, 2013)। ग्रामीण महिलाएँ भूमि तक सीमित पहुँच, गतिशीलता पर प्रतिबंध, निम्न साक्षरता स्तर तथा सुदृढ़ पितृसत्तात्मक मान्यताओं जैसी अनेक बाधाओं का सामना करती हैं (Desai & Joshi, 2019)। जीविका के हस्तक्षेप, जैसेकृस्व–सहायता समूहों का गठन, सूक्ष्म ऋण संपर्क, व्यावसायिक प्रशिक्षण तथा बाजार सुविधा इन बाधाओं को दूर करने हेतु सामूहिक क्रियाशीलता एवं आर्थिक स्वतंत्रता के लिए मंच तैयार करते हैं। प्रारंभिक अध्ययनों ने संकेत दिया है कि इन प्रयासों से महिलाओं के बचत व्यवहार, ऋण तक पहुँच एवं परिवार के भीतर निर्णय–निर्धारण शक्ति में सुधार हुआ है। तथापि, इन परिणामों में असमानता विद्यमान है और अनेक चुनौतियाँ अब भी शेष हैं, जो इस कार्यक्रम के समग्र प्रभाव का आलोचनात्मक विश्लेषण अनिवार्य बनाती हैं।

इस संदर्भ में आर्थिक सशक्तिकरण की अवधारणा केवल आय–सृजन तक सीमित नहीं है। इसमें निर्णय–निर्धारण क्षमता में सुधार, गतिशीलता में वृद्धि, सामुदायिक कार्यों में अधिक भागीदारी, तथा घरेलू संसाधन आवंटन को प्रभावित करने की क्षमता भी सम्मिलित है (Sen, 1999)। बिहार में, जहाँ सांस्कृतिक प्रतिबंध अक्सर महिलाओं की सक्रियता को सीमित करते हैं, 'जीविका' ने लैंगिक संबंधों को पुनर्गठित करने में

* शोध छात्र, राजनीति विज्ञान विभाग, ईश्वर शरण डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद विश्वविद्यालय
** असिस्टेंट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, ईश्वर शरण डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

उत्प्रेरक भूमिका निभाई है। महिलाओं को ऋण तक पहुँच उपलब्ध कराकर तथा उन्हें लघु व्यवसाय प्रारंभ करने हेतु सक्षम बनाकर यह मिशन न केवल गरीबी–उन्मूलन में योगदान करता है, बल्कि व्यापक सामाजिक परिवर्तन प्रक्रियाओं को भी गति प्रदान करता है। उदाहरणस्वरूप, स्व–सहायता समूहों (SHGs) ने शोषणकारी साहूकारों पर निर्भरता कम करने, महिलाओं की सौदेबाजी क्षमता बढ़ाने तथा स्थानीय शासन में उनकी भूमिका सुदृढ़ करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है (Nair, 2016)।

इस अध्ययन का व्यापक महत्व इस तथ्य में निहित है कि यह मिशन के जमीनी क्रियान्वयन को लैंगिकता, विकास एवं समावेशी प्रगति पर चल रही बहसों से जोड़ता है। राष्ट्रीय स्तर पर किए गए मूल्यांकनों ने छत्स्ड के वित्तीय समावेशन तथा गरीबी उन्मूलन में योगदान को रेखांकित किया है, किन्तु संदर्भ–विशिष्ट (राज्य–आधारित) अध्ययनों की आवश्यकता बनी रहती है, ताकि स्थानीय जटिलताओं को समझा जा सके (Mehrotra, 2017)। बिहार एक विशिष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है, क्योंकि वहाँ ऐतिहासिक रूप से गहरी गरीबी, दुर्बल अवसंरचना तथा गहरी सामाजिक विषमताएँ विद्यमान रही हैं। अतः बिहार में 'जीविका' के प्रभाव का अध्ययन केवल महिलाओं की आर्थिक स्थिति पर ही नहीं, बल्कि एक संरचनात्मक रूप से वंचित क्षेत्र में नीतियों को व्यवहार में बदलने की व्यापक चुनौतियों पर भी प्रकाश डालता है।

यह शोध लेख बिहार में महिलाओं की आर्थिक स्थिति पर NRLM/ जीविका के प्रभाव का आकलन करने का उद्देश्य रखता है, जिसमें आय एवं बचत, ऋण तक पहुँच, रोजगार अवसर, निर्णय–निर्धारण तथा सामाजिक पूँजी निर्माण जैसी प्रमुख आयामों पर ध्यान केंद्रित किया गया है। लेख कार्यक्रम के क्रियान्वयन में आने वाली वित्तीय, संस्थागत एवं सामाजिक–सांस्कृतिक बाधाओं की भी पड़ताल करता है। द्वितीयक साहित्य और क्षेत्र–आधारित साक्ष्यों के साथ एक मिश्रित–पद्धति (mixed-method approach) अपनाकर यह अध्ययन भारत में ग्रामीण महिलाओं के सशक्तिकरण पर चल रहे विमर्श में योगदान करने का प्रयास करता है।

इस अध्ययन को मार्गदर्शित करने वाले प्रमुख शोध प्रश्न निम्नलिखित हैं:

1. किस हद तक NRLM/जीविका ने बिहार की महिलाओं की आय, बचत तथा रोजगार अवसरों में सुधार किया है?
2. SHGs में भागीदारी ने महिलाओं की निर्णय–निर्धारण शक्ति और घर–परिवार एवं समुदायों में उनकी सामाजिक स्थिति को कैसे प्रभावित किया है?
3. वे कौन–सी चुनौतियाँ एवं सीमाएँ हैं जो महिलाओं की आर्थिक स्थिति में परिवर्तन लाने में इस मिशन की प्रभावशीलता में बाधक हैं?

इन प्रश्नों के समाधान हेतु यह लेख अकादमिक शोध मानकों के अनुरूप एक संरचित दृष्टिकोण अपनाता है। इस परिचय के पश्चात अगला खंड विश्लेषण की आधारशिला बनने वाले सैद्धांतिक एवं वैचारिक ढाँचे को प्रस्तुत करता है, जिसमें प्रासंगिक विकास सिद्धांतों पर प्रकाश डाला जाएगा। इसके बाद नीतिगत एवं संस्थागत परिप्रेक्ष्यों की विवेचना, शोध पद्धति की चर्चा, तथा महिलाओं की आर्थिक स्थिति पर कार्यक्रम के प्रभाव का विस्तृत विश्लेषण किया जाएगा। अंततः, लेख प्रमुख चुनौतियों के आकलन, नीतिगत सुझावों और भावी अनुसंधान की दिशा–निर्देशों के साथ संपन्न होगा।

2. सैद्धांतिक एवं वैचारिक रूपरेखा

स्व–रोजगार और आजीविका कार्यक्रमों (जैसे NRLM/जीविका) के माध्यम से महिलाओं के आर्थिक सशक्तिकरण का आकलन करने हेतु एक ठोस सैद्धांतिक एवं वैचारिक आधार आवश्यक है। 'आजीविका' की अवधारणा केवल आय–सृजन तक सीमित नहीं है, बल्कि इसमें जीवनयापन के लिए आवश्यक क्षमताएँ, संसाधन और गतिविधियाँ भी सम्मिलित हैं (Chambers & Conway, 1992)। इस परिप्रेक्ष्य में, महिलाओं का सशक्तिकरण मात्र एक आर्थिक प्रश्न न होकर सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक आयामों से जुड़ी एक बहुआयामी प्रक्रिया है। इस खंड में तीन परस्पर सम्बद्ध रूपरेखाएँ प्रस्तुत की गई हैं स्व–रोजगार एवं आजीविका दृष्टिकोण, लैंगिकता एवं विकास सिद्धांत, तथा सतत आजीविका रूपरेखा जो सामूहिक रूप से इस अध्ययन को आधार प्रदान करती हैं।

2.1. स्व–रोजगार एवं आजीविका दृष्टिकोण

विकास विमर्श में स्व–रोजगार को अक्सर गरीबी से मुक्ति का एक मार्ग माना गया है, विशेषकर उन ग्रामीण अर्थव्यवस्थाओं में जहाँ मजदूरी आधारित रोजगार अवसरों की कमी होती है। विद्वानों का तर्क है कि ऋण तक पहुँच, प्रशिक्षण और संस्थागत समर्थन के माध्यम से स्व–रोजगार को प्रोत्साहित करने से महिलाओं की आर्थिक स्वतंत्रता और सौदेबाजी शक्ति में वृद्धि हो सकती है (Mehrotra, 2017)। बिहार में, जहाँ कृ

षि–आधारित अपूर्ण रोजगार व्यापक है, NRLM/जीविका के माध्यम से आजीविका संवर्धन का उद्देश्य आय स्रोतों का विविधीकरण करना और निर्वाह कृषि पर निर्भरता को कम करना है।

NRLM का दृष्टिकोण समुदाय–आधारित संस्थाओं, विशेष रूप से स्व–सहायता समूहों (SHGs), के निर्माण पर बल देता है, जिन्हें आर्थिक परिवर्तन के वाहन के रूप में देखा जाता है। SHGs बचत को संगठित करते हैं, सूक्ष्म ऋण की सुविधा उपलब्ध कराते हैं, और सामूहिक उद्यमिता का समर्थन करते हैं, जिससे महिलाएँ उन बाजारों में प्रवेश कर पाती हैं जिनसे वे पूर्व में बहिष्कृत रही थीं (Datta, 2015)। यह दृष्टिकोण अमर्त्य सेन (1999) द्वारा प्रतिपादित 'क्षमता दृष्टिकोण' (Capability Approach) से मेल खाता है, जो यह रेखांकित करता है कि व्यक्तियों को उनके मूल्यवान जीवन जीने हेतु वास्तविक स्वतंत्रताएँ प्रदान करना कितना आवश्यक है। महिलाओं की वित्तीय साक्षरता, उद्यमिता कौशल और सामाजिक नेटवर्क तक पहुँच जैसी क्षमताओं में वृद्धि करके ऐसे आजीविका कार्यक्रम उनकी सक्रियता को आय–आधारित मापदंडों से परे विस्तारित करते हैं।

2.2. लैंगिकता एवं विकास सिद्धांत

यह वैचारिक रूपरेखा लैंगिकता और विकास संबंधी सिद्धांतों पर भी आधारित है। 1970 के दशक में प्रभावी रहे 'महिला और विकास' (Women in Development—WID) दृष्टिकोण ने महिलाओं को मौजूदा विकास कार्यक्रमों में कौशल प्रशिक्षण और आय–सृजनकारी गतिविधियों के माध्यम से शामिल करने की वकालत की (Moser, 1993)। किंतु इस दृष्टिकोण की आलोचना हुई कि यह महिलाओं को परिवर्तन की सक्रिय एजेंट्स के बजाय निष्क्रिय लाभार्थियों के रूप में देखता है। इसके बाद विकसित 'लैंगिकता और विकास' (Gender and Development GAD) परिप्रेक्ष्य ने लैंगिक संबंधों की संरचनात्मकता पर बल दिया, जिसमें घर–परिवार और समुदायों के भीतर शक्ति–संतुलन पर ध्यान केंद्रित किया गया (Razavi & Miller, 1995)।

NRLM/ जीविका दोनों दृष्टिकोणों के तत्वों को समाहित करता है, किंतु यह अधिक निकटता से GAD दृष्टिकोण से मेल खाता है, क्योंकि यह महिलाओं के सामूहिक समूह बनाकर संरचनात्मक असमानताओं का समाधान करने का प्रयास करता है। SHGs में सहभागिता पितृसत्तात्मक मानदंडों को चुनौती देती है, क्योंकि यह महिलाओं को सामूहिक सौदेबाजी शक्ति, निर्णय–निर्धारण अधिकार और स्थानीय शासन में अधिक दृश्यता प्रदान करती है (Nair, 2016)। इसके अतिरिक्त, विकास सिद्धांत में 'सशक्तिकरण दृष्टिकोण' यह बल देता है कि सशक्तिकरण एक प्रक्रिया और परिणाम दोनों है, जिसमें संसाधन (भौतिक एवं सामाजिक), एजेंसी (निर्णय लेने की क्षमता) और उपलब्धियाँ (प्राप्त परिणाम) सम्मिलित हैं (Kabeer, 1999)। यह त्रिआयामी मॉडल आकलन के लिए एक विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण प्रदान करता है कि NRLM/जीविका किस प्रकार बिहार में महिलाओं के जीवन को रूपांतरित कर रहा है।

2.3. सतत आजीविका रूपरेखा

सतत आजीविका रूपरेखा (Sustainable Livelihood Framework SLF), जिसे ब्रिटेन के अंतर्राष्ट्रीय विकास विभाग (DFID) ने विकसित किया था, एक अन्य महत्वपूर्ण वैचारिक उपकरण प्रदान करता है। यह रूपरेखा पाँच प्रकार की पूँजी मानव, सामाजिक, प्राकृतिक, भौतिक और वित्तीय को रेखांकित करती है, जिनका उपयोग परिवार अपनी आजीविका को बनाए रखने हेतु करते हैं (DFID, 1999)। आजीविका के परिणाम संस्थागत प्रक्रियाओं, नीतियों और उन जोखिमपूर्ण संदर्भों से प्रभावित होते हैं जिनमें गरीबी, सामाजिक बहिष्कार और लैंगिक भेदभाव शामिल हैं।

बिहार में, जीविका के हस्तक्षेपों को इस रूपरेखा पर अभिलिखित किया जा सकता है। ऋण तक पहुँच द्वारा वित्तीय पूँजी, SHGs के माध्यम से सामाजिक पूँजी, और कौशल विकास के जरिए मानव पूँजी को बढ़ाकर यह कार्यक्रम महिलाओं की आर्थिक झटकों से निपटने और सतत आजीविका की ओर बढ़ने की क्षमता को सुदृढ़ करता है। यह रूपरेखा लचीलापन (resilience) के महत्व को भी रेखांकित करती है, जो बिहार जैसे राज्य में अत्यंत महत्वपूर्ण है, जहाँ बार–बार आने वाली बाढ़ें, प्रवासन और कृषि संकट ग्रामीण अस्तित्व को खतरे में डालते हैं (Jha, 2018)। इस प्रकार, NRLM/जीविका मात्र एक गरीबी–उन्मूलन कार्यक्रम न होकर लचीलापन और दीर्घकालिक स्थिरता बढ़ाने का एक संस्थागत तंत्र है।

2.4. समेकित वैचारिक दृष्टिकोण

इन दृष्टिकोणों को समेक्छित करते हुए, इस अध्ययन की वैचारिक रूपरेखा महिलाओं के सशक्तिकरण को आजीविका, लैंगिकता और स्थिरता के अंतर्संयोग पर स्थित करती है। यह मानती है कि NRLM/जीविका महिलाओं की आर्थिक स्थिति पर तीन मार्गों से प्रभाव डालता है:

1. **भौतिक सुधार** – आय, बचत और ऋण तक पहुँच में वृद्धि।
2. **एजेंसी और क्षमताएँ** – निर्णय–निर्धारण, उद्यमिता कौशल और स्वायत्तता में वृद्धि।
3. **संरचनात्मक रूपांतरण** – लैंगिक मानदंडों, सामाजिक पूँजी और संस्थागत सहभागिता में परिवर्तन।

यह समेकित दृष्टिकोण सुनिश्चित करता है कि विश्लेषण सशक्तिकरण को केवल आर्थिक लाभों तक सीमित न करे, बल्कि इसे व्यापक सामाजिक–आर्थिक और सांस्कृतिक संदर्भों में स्थापित करे। स्थापित सैद्धांतिक मॉडलों में अध्ययन को आधार देकर यह रूपरेखा बिहार में महिलाओं की आर्थिक स्थिति पर NRLM जीविका के प्रभाव का समग्र मूल्यांकन करने हेतु एक व्यापक दृष्टि प्रदान करती है।

3. नीतिगत एवं संस्थागत परिप्रेक्ष्य

भारत सरकार द्वारा 2011 में प्रारम्भ किया गया राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन (NRLM) ग्रामीण विकास नीतियों के विकास क्रम में एक ऐतिहासिक मील का पत्थर सिद्ध हुआ। पूर्ववर्ती गरीबी–उन्मूलन योजनाएँ जहाँ मुख्यतः सब्सिडी या अस्थायी रोजगार अवसर प्रदान करने तक सीमित थीं, वहीं NRLM संस्थागत निर्माण, सशक्तिकरण एवं आजीविका के विविधीकरण की दिशा में एक महत्वपूर्ण बदलाव का प्रतीक है। बिहार में यह कार्यक्रम 'जीविका' के नाम से संचालित है और यह NRLM के सबसे सफल राज्य–स्तरीय मॉडलों में से एक के रूप में स्थापित हो चुका है। यह खंड NRLM/जीविका को व्यापक नीतिगत ढाँचे के भीतर स्थापित करता है, बिहार में इसके विकास क्रम का विश्लेषण करता है तथा अन्य आजीविका पहलों की तुलना प्रस्तुत करता है।

3.1. राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशनः एक नीतिगत नवाचार

छत्स्ड की परिकल्पना बारहवीं पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत की गई थी, जो पूर्ववर्ती स्वर्णजयंती ग्राम स्व–रोजगार योजना (SGSY) के अनुभवों पर आधारित थी। यद्यपि SGSY का उद्देश्य SHGs के माध्यम से स्व–रोजगार के अवसर प्रदान करना था, किंतु इसका क्रियान्वयन खंडित, संस्थागत क्षमता कमजोर और पहुँच सीमित थी (World Bank, 2011)। इन कमियों को दूर करने हेतु NRLM को माँग–आधारित, सहभागी एवं क्षमता–विकास उन्मुख दृष्टिकोण के साथ डिजाइन किया गया (Ministry of Rural Development [MoRD], 2011)।

मूलतः, NRLM तीन प्रमुख सिद्धांतों द्वारा संचालित हैः

1. सार्वभौमिक सामाजिक लामबंदी प्रत्येक ग्रामीण परिवार की कम–से–कम एक महिला को स्व–सहायता समूह से जोड़ना।
2. वित्तीय समावेशन SHGs को बैंकों से जोड़ना तथा ऋण और बीमा तक पहुँच सुनिश्चित करना।
3. आजीविका संवर्धन कौशल विकास, सूक्ष्म उद्यमिता और बाजार संपर्क का समर्थन।

इसके अतिरिक्त, NRLM अन्य सरकारी कार्यक्रमों जैसेकृमहात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम (MGNREGA) स्वास्थ्य एवं शिक्षा योजनाओं के साथ अभिसरण (convergence) पर भी बल देता है, ताकि समग्र विकास हेतु सहक्रियात्मक प्रभाव उत्पन्न हो सके (MoRD, 2015)।

3.2. बिहार में जीविकाः संस्थागत विकास

बिहार छत्स्ड को पायलट आधार पर अपनाने वाले प्रथम राज्यों में था, जहाँ 2007 में विश्व बैंक की सहायता से इसे प्रारम्भ किया गया, अर्थात 2011 के राष्ट्रीय क्रियान्वयन से भी पूर्व। बिहार ग्रामीण आजीविका परियोजना (BRLP), जिसे 'जीविका' के नाम से जाना जाता है, कुछ चयनित जिलों में शुरू हुई और तत्पश्चात पूरे राज्य में विस्तारित हो गई। इसके क्रियान्वयन का मॉडल चार–स्तरीय संस्थागत ढाँचे पर आधारित हैः

- स्व–सहायता समूह (SHGs) ग्राम स्तर पर।
- ग्राम संगठन (VOs) – SHGs का क्लस्टर स्तर पर संघटन।
- क्लस्टर–स्तरीय महासंघ (CLFs) व्यापक समन्वय एवं संसाधन एकत्रीकरण हेतु।
- ब्लॉक परियोजना क्रियान्वयन इकाइयाँ (BPIUs) तकनीकी एवं प्रशासनिक समर्थन हेतु।

यह बहु–स्तरीय संरचना विस्तार–क्षमता, उत्तरदायित्व और सामूहिक सौदेबाजी शक्ति सुनिश्चित करती है। वर्ष 2020 तक जीविका ने 1 करोड़ से अधिक ग्रामीण महिलाओं को SHGs में संगठित किया,

जिससे यह दक्षिण एशिया की सबसे बड़ी महिला सशक्तिकरण पहलों में से एक बन गया (World Bank, 2020)।

जीविका की संस्थागत शक्ति का आधार 'समुदाय पेशेवरों' पर है यानी SHGs की प्रशिक्षित महिलाएँ, जो सहकर्मी नेतृत्वकर्ता, संसाधन व्यक्ति एवं सुगमकर्ता के रूप में कार्य करती हैं। यह निचले स्तर से ऊपर की ओर बढ़ने वाला दृष्टिकोण स्थानीय क्षमता का निर्माण करता है और बाहरी एजेंटों पर निर्भरता कम करके स्थिरता सुनिश्चित करता है (Datta, 2015)।

3.3. नीतिगत अभिसरण एवं एकीकरण

जीविका की प्रभावशीलता का एक प्रमुख कारण इसकी अन्य राज्य एवं केंद्र सरकार योजनाओं के साथ अभिसरण क्षमता है। उदाहरणस्वरूप, SHGs को अक्सर राष्ट्रीय कृषि और ग्रामीण विकास बैंक (NABARD) के अंतर्गत ऋण कार्यक्रमों, कृषि विस्तार सेवाओं और ग्रामीण कौशल प्रशिक्षण केंद्रों से जोड़ा जाता है। जीविका से संबद्ध महिलाओं को सार्वजनिक वितरण प्रणाली (PDS), स्वच्छ भारत मिशन, और उज्ज्वला योजना (गैस कनेक्शन) जैसी योजनाओं में भी प्राथमिकता दी जाती है (Government of Bihar, 2019)।

यह एकीकरण गरीबी की बहुआयामी प्रकृति को संबोधित करने में सहायक है, क्योंकि यह आय–वृद्धि को खाद्य सुरक्षा, स्वास्थ्य, स्वच्छता और ऊर्जा पहुँच में सुधार के साथ जोड़ता है। इस प्रकार, जीविका अनेक सतत विकास लक्ष्यों (SDGs) में योगदान करता है, जिनमें लैंगिक समानता (SDG 5), गरीबी उन्मूलन (SDG 1), तथा सम्मानजनक कार्य एवं आर्थिक वृद्धि (SDG 8) सम्मिलित हैं।

3.4. तुलनात्मक परिप्रेक्ष्यः जीविका एवं अन्य आजीविका कार्यक्रम

यद्यपि NRLM पूरे भारत में लागू है, इसकी सफलता विभिन्न राज्यों में असमान रही है। उदाहरण स्वरूप, आंध्र प्रदेश और केरल ने भी मजबूत SHG आंदोलनों की रिपोर्ट की है, जहाँ क्रमशः SERP (Society for Elimination of Rural Poverty) और कुडुम्बश्री जैसे मॉडल स्थापित हुए। इन राज्यों में पूर्व–स्थित सामाजिक लामबंदी संरचनाएँ थीं, जिन्होंने सुचारू क्रियान्वयन को संभव बनाया (Nair, 2016)। इसके विपरीत, कमजोर संस्थागत क्षमता वाले राज्य पैमाने और स्थिरता प्राप्त करने में संघर्षरत रहे।

बिहार की जीविका विशिष्ट है, क्योंकि इसने कमजोर शासन और अवसंरचना वाले राज्य में भी एक सुदृ SHG आंदोलन स्थापित किया। विश्व बैंक (2020) ने जीविका को इसकी व्यापक पहुँच, क्षमता निर्माण पर बल और आपदा–प्रवण क्षेत्रों में लचीलापन बढ़ाने के कारण एक "रूपांतरकारी विकास परियोजना" के रूप में रेखांकित किया। SGSY और अन्य पूर्ववर्ती योजनाओं की तुलना में जीविका एक अधिक स्थायी एवं सहभागी गरीबी–उन्मूलन मॉडल प्रस्तुत करता है।

3.5. नीतिगत क्रियान्वयन में सीमाएँ

इन उपलब्धियों के बावजूद कई चुनौतियाँ विद्यमान हैं। वित्तीय समावेशन प्रायः अल्पकालिक ऋण तक सीमित रह गया है, जिसमें उद्यमिता विकास हेतु पर्याप्त सहयोग नहीं मिल पाता (Mehrotra, 2017)। अनेक SHGs अब भी औपचारिक बाजारों तक पहुँच से वंचित हैं, जिसके कारण स्थानीय मध्यस्थों पर निर्भर रहना पड़ता है। इसके अतिरिक्त, महिलाओं की गतिशीलता पर प्रतिबंध और पितृसत्तात्मक मान्यताओं जैसी सामाजिक–सांस्कृतिक बाधाएँ SHGs की पूर्ण क्षमता को कभी–कभी सीमित कर देती हैं (Desai – Joshi, 2019)।

संस्थागत चुनौतियाँ भी बनी हुई हैं, जैसे धनराशि वितरण में विलंब, विभिन्न जिलों में क्षमता का असमान स्तर, और बाहरी वित्तपोषण पर अत्यधिक निर्भरता। अन्य योजनाओं के साथ अभिसरण, यद्यपि सैद्धांतिक रूप से सुदृढ़ है, किंतु जमीनी स्तर पर अक्सर समन्वय की कमी से प्रभावित होता है (Jha, 2018)। ये सीमाएँ निरंतर संस्थागत नवाचार और नीतिगत परिष्कार की आवश्यकता को रेखांकित करती हैं।

3.6. बिहार हेतु नीतिगत महत्व

बिहार के लिए, जीविका केवल एक गरीबी–निवारण हस्तक्षेप नहीं बल्कि एक सामाजिक रूपांतरण का उत्प्रेरक रहा है। इस कार्यक्रम ने महिलाओं की स्थानीय शासन में दृश्यता बढ़ाई, उनके घरेलू सौदेबाजी शक्ति को सुदृढ़ किया और सामूहिक क्रियाशीलता के लिए मंच प्रदान किया। इसने यह भी प्रदर्शित किया कि यदि सशक्त नीतिगत डिजाइन और सतत राजनीतिक इच्छाशक्ति उपलब्ध हो, तो संस्थागत निर्माण और सशक्तिकरण–उन्मुख दृष्टिकोण संरचनात्मक रूप से वंचित परिप्रेक्ष्यों में भी सफलता प्राप्त कर सकते हैं।

4. शोध कार्यप्रणाली

बिहार में महिलाओं की आर्थिक स्थिति पर NRLM/जीविका के प्रभाव के आकलन हेतु एक संगठित एवं व्यवस्थित कार्यप्रणाली आवश्यक है। इस खंड में अध्ययन की शोध रूपरेखा, अध्ययन क्षेत्र, डाटा संग्रहण पद्धति, नमूना रणनीति तथा डाटा विश्लेषण की तकनीकों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। प्राथमिक और द्वितीयक दोनों प्रकार के साक्ष्यों को सम्मिलित कर यह कार्यप्रणाली कार्यक्रम के बहुआयामी प्रभाव को समझने में गहनता और संदर्भगत प्रासंगिकता सुनिश्चित करती है।

यह अध्ययन मिश्रित–पद्धति दृष्टिकोण (Mixed & Method Approach) अपनाता है, जिसमें मात्रात्मक (quantitative) और गुणात्मक (qualitative) दोनों विधियों का एकीकरण किया गया है। संरचित सर्वेक्षणों के माध्यम से संकलित मात्रात्मक आँकड़े महिलाओं की आय, बचत, ऋण तक पहुँच और रोजगार जैसे मापनीय संकेतकों को प्रस्तुत करते हैं। साक्षात्कार, फोकस समूह चर्चा (FGDs) और केस अध्ययन के माध्यम से एकत्रित गुणात्मक आँकड़े निर्णय–निर्धारण, सशक्तिकरण और सामाजिक पूँजी निर्माण जैसी आत्मानुभूतिगत आयामों को पकड़ते हैं। यह त्रिकोणीयकरण (triangulation) विभिन्न प्रकार के साक्ष्यों के परस्पर सत्यापन द्वारा निष्कर्षों की विश्वसनीयता और वैधता को सुदृढ़ करता है।

यह अध्ययन बिहार में स्थित है, जो उच्च गरीबी दर, निम्न साक्षरता और गहरी लैंगिक विषमताओं की विशेषताओं से युक्त है। गया, नालंदा और पूर्णिया जैसे विशिष्ट जिलों का चयन इस आधार पर किया गया है कि वे सामाजिक–आर्थिक परिस्थितियों और कार्यक्रम क्रियान्वयन में क्षेत्रीय विविधता का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये जिले जीविका के प्रवेश और विस्तार की विभिन्न अवस्थाओं को दर्शाते हैं, जिससे तुलनात्मक विश्लेषण संभव हो पाता है।

शोध में बहु–स्तरीय नमूना तकनीक (Multi & Stage Sampling Technique) अपनाई गई है। प्रथम चरण में जीविका कार्यक्रम सक्रिय रूप से संचालित होने वाले जिलों का उद्देश्यपूर्ण चयन किया गया। द्वितीय चरण में इन जिलों के अंतर्गत प्रखंडों और गाँवों का यादृच्छिक चयन किया गया। अंतिम चरण में स्व–सहायता समूहों (SHGs) और उनकी महिला सदस्याओं का नमूना तैयार किया गया। 300 महिला उत्तरदाताओं का नमूना आकार प्रस्तावित है, जिससे पर्याप्त प्रतिनिधित्व और सांख्यिकीय महत्व सुनिश्चित हो सके। इसमें SHG सदस्य (लाभार्थी) और गैर–सदस्य (नियंत्रण समूह) दोनों सम्मिलित हैं, ताकि तुलनात्मक अंतर का आकलन किया जा सके।

सर्वेक्षणः आय, बचत, ऋण, रोजगार और घरेलू निर्णय–निर्धारण से संबंधित संरचित प्रश्नावली।

साक्षात्कारः SHG नेताओं, समुदाय पेशेवरों और कार्यक्रम अधिकारियों के साथ अर्ध–संरचित साक्षात्कार।

फोकस समूह चर्चा (FGDs): SHG सदस्याओं के साथ आयोजित, ताकि सामूहिक गतिकी और चुनौतियों को समझा जा सके।

केस अध्ययनः महिला उद्यमियों या परिवारों की गहन कथाएँ, जो कार्यक्रम के परिणामों को दर्शाती हैं।

बिहार सरकार और ग्रामीण विकास मंत्रालय की आधिकारिक रिपोर्टें।

अकादमिक पत्रिकाओं, पुस्तकों और विश्व बैंक के अध्ययनों में प्रकाशित साहित्य।

भारत की जनगणना, राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन (NSSO) और बिहार आर्थिक सर्वेक्षणों से प्राप्त सांख्यिकीय आँकड़े।

मात्रात्मक आँकड़ों का विश्लेषण वर्णनात्मक सांख्यिकी (Descriptive Statistics) औसत, माध्यिका, प्रतिशत आदि तथा तुलनात्मक विधियों (जैसे t & test, chi & square test) के माध्यम से किया गया, ताकि SHG और गैर SHG सदस्याओं के बीच सांख्यिकीय रूप से महत्वपूर्ण अंतरों की पहचान हो सके। गुणात्मक आँकड़ों के लिए थीमैटिक विश्लेषण (Thematic Analysis) का उपयोग किया गया, जिससे सशक्तिकरण, एजेंसी और सामाजिक पूँजी से संबंधित आवर्ती पैटर्नों की व्याख्या संभव हुई (Braun & Clarke, 2006)। साक्षात्कारों और थ्ळवे को व्यवस्थित रूप से कोड करने के लिए NVivo सॉफ्टवेयर का भी उपयोग किया जा सकता है।

यद्यपि मिश्रित–पद्धति की रूपरेखा अध्ययन को गहनता प्रदान करती है, फिर भी कुछ सीमाएँ विद्यमान हैं। उत्तरदाताओं के उत्तर सामाजिक वांछनीयता पूर्वाग्रह (Social Desirability Bias) से प्रभावित हो सकते हैं, जिसमें महिलाएँ अपनी आर्थिक स्थिति को कम या अधिक बताती हैं। फील्ड–स्तर पर अपर्याप्त अवसंरचना, महिलाओं की गतिशीलता पर प्रतिबंध और सांस्कृतिक अवरोध डाटा संग्रहण को प्रभावित कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त, अध्ययन सीमित जिलों पर केंद्रित होने के कारण निष्कर्ष पूरे राज्य की विविधताओं

को पूर्णतः प्रतिबिंबित नहीं कर सकते। इन सीमाओं को स्वीकार करते हुए अध्ययन में कार्यप्रणालीगत कठोरता एवं पारदर्शिता बनाए रखने का प्रयास किया गया है।

5. महिलाओं की आर्थिक स्थिति पर प्रभाव

NRLM/जीविका का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण महिलाओं को स्व–रोजगार, आजीविका के विविधीकरण और वित्तीय समावेशन के माध्यम से उनकी आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ कर सशक्त बनाना है। बिहार में, जहाँ संरचनात्मक असमानताएँ और पितृसत्तात्मक मानदंड श्रम बाजार में महिलाओं की भागीदारी को सीमित करते हैं, जीविका एक रूपांतरकारी पहल के रूप में उभरी है। इसके प्रभाव को कई परस्पर जुड़े आयामों आय और बचत, ऋण तक पहुँच और वित्तीय समावेशन, रोजगार और उद्यमिता, निर्णय–निर्धारण और पारिवारिक गतिशीलता, तथा सामाजिक पूँजी निर्माण में समझा जा सकता है।

5.1 आय और बचत में परिवर्तन

जीविका का सबसे मूर्त परिणाम महिलाओं की आय और पारिवारिक बचत में वृद्धि है। महिलाओं को स्व–सहायता समूहों (SHGs) में संगठित करके यह कार्यक्रम सामूहिक बचत और कम–ब्याज दर पर ऋण तक पहुँच का अवसर प्रदान करता है। महिलाएँ समूह को साप्ताहिक या मासिक छोटी धनराशि का योगदान करती हैं, जिससे एक घूर्णनशील ऋण व्यवस्था (revolving credit system) विकसित होती है।

अध्ययनों से पता चला है कि जीविका के अंतर्गत SHGs में भागीदारी ने महिलाओं की बचत और निवेश की प्रवृत्ति को उल्लेखनीय रूप से बढ़ाया है। दत्ता (2015) ने पाया कि बिहार में SHG सदस्य महिलाओं की औसत बचत गैर–सदस्य महिलाओं की तुलना में तीन से चार गुना अधिक है। यह बचत संकट की घड़ी में वित्तीय सहारा प्रदान करती है, शोषणकारी साहूकारों पर निर्भरता को कम करती है और शिक्षा, स्वास्थ्य तथा लघु व्यवसायों में निवेश को सक्षम बनाती है।

इसके अतिरिक्त, महिलाओं की मुर्गी पालन, बकरी पालन, हस्तशिल्प और किराना दुकान जैसी आय–सृजनकारी गतिविधियों में भागीदारी ने पारिवारिक आय स्रोतों में विविधता जोड़ी है (World Bank, 2020)। इसने कृषि झटकों और मौसमी बेरोजगारी के विरुद्ध परिवारों की आर्थिक लचीलापन को बढ़ाया है।

महिलाओं का पारिवारिक आय में योगदान उनके घरेलू सौदेबाजी शक्ति को भी मजबूत करता है। जैसा कि सेन (1999) तर्क करते हैं, आर्थिक स्वतंत्रता महिलाओं की विकल्प चुनने की क्षमता को बढ़ाती है और पितृसत्तात्मक मानदंडों को चुनौती देती है। बिहार के संदर्भ में, महिलाओं की आय में मामूली वृद्धि ने भी सम्मान, मान्यता और घरेलू मामलों में अधिक आवाज जैसे सकारात्मक प्रभाव उत्पन्न किए हैं।

5.2 ऋण और वित्तीय समावेशन की भूमिका

सुलभ ऋण तक पहुँच NRLM/जीविका की आधारशिला है। परंपरागत रूप से, बिहार की ग्रामीण महिलाएँ साहूकारों पर निर्भर थीं, जो अत्यधिक ब्याज दर वसूलते थे और परिवारों को ऋण–जाल में फँसा देते थे। SHGs नाममात्र दर पर आंतरिक ऋण उपलब्ध कराते हैं और औपचारिक बैंकिंग संस्थानों से संबंध स्थापित कर बड़े ऋण तक पहुँच सुनिश्चित करते हैं।

प्रमाण बताते हैं कि जीविका के अंतर्गत वित्तीय समावेशन उल्लेखनीय रहा है। वर्ष 2019 तक बिहार में 80 लाख से अधिक SHG सदस्य महिलाओं को औपचारिक बैंकों से जोड़ा जा चुका था और ₹20,000 करोड़ से अधिक की संचयी ऋण प्रवाह उपलब्ध कराया गया (Government of Bihar, 2019)। इन ऋणों का उपयोग न केवल उपभोग संतुलन हेतु हुआ बल्कि कृषि, पशुपालन और सूक्ष्म उद्यमों में निवेश के लिए भी किया गया।

वित्तीय समावेशन ने महिलाओं को डिजिटल वित्तीय सेवाओं के दायरे में भी लाया। जीविका ने मोबाइल बैंकिंग, डिजिटल भुगतान और बीमा योजनाओं के उपयोग को प्रोत्साहित किया, विशेषकर प्रधानमंत्री जनधन योजना (PMJDY) के शुभारंभ के बाद (Ravi & Gakhar, 2020)। यद्यपि डिजिटल साक्षरता एक चुनौती बनी हुई है, SHG सदस्याएँ औपचारिक वित्तीय साधनों को अपनाती जा रही हैं, जिससे उनकी आर्थिक हाशिएदारी में कमी आई है।

फिर भी चुनौतियाँ शेष हैं। कई महिलाओं के पास जमानत और साक्षरता का अभाव है, जिससे वे स्वतंत्र रूप से बैंकिंग प्रणाली का उपयोग नहीं कर पातीं। ऋण वितरण में विलंब, नौकरशाही बाधाएँ और सीमित पुनर्भुगतान क्षमता अक्सर ऋण की रूपांतरकारी क्षमता को सीमित करती है (Mehrotra, 2017)। इसके

बावजूद, SHGs की सामूहिक सौदेबाजी शक्ति इन बाधाओं को कुछ हद तक कम करती है क्योंकि बैंक SHGs को अपेक्षाकृत कम–जोखिम वाले ऋणग्राही मानते हैं।

5.3 रोजगार और उद्यमिता के अवसर

जीविका ने महिलाओं की रोजगार और उद्यमिता तक पहुँच पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाला है। जहाँ पहले ग्रामीण महिलाएँ मुख्यतः अवैतनिक घरेलू श्रम और निर्वाह कृषि तक सीमित थीं, SHGs ने उन्हें कौशल विकास, सामूहिक उद्यमिता और बाजारोन्मुख गतिविधियों के मंच प्रदान किए।

कार्यक्रम ने विभिन्न आजीविका हस्तक्षेपों को प्रोत्साहित किया हैः

कृषि और संबद्ध गतिविधियाँः बीज, उर्वरक और विस्तार सेवाओं तक बेहतर पहुँच ने महिलाओं की कृषि उत्पादकता को बढ़ाया। पशुपालन, विशेषकर बकरी और मुर्गी पालन, कई परिवारों के लिए विश्वसनीय आय स्रोत बन गए (Jha, 2018)।

सूक्ष्म उद्यमः महिलाओं ने दर्जीगिरी, हस्तशिल्प और खाद्य प्रसंस्करण जैसे लघु व्यवसाय प्रारंभ किए। क्लस्टर–स्तरीय महासंघ इन उद्यमों को बेहतर बाजार मूल्य दिलाने और प्रशिक्षण प्रदान करने में सहायक हैं।

कौशल विकासः कौशल विकास मिशनों और छळे के सहयोग से गैर–कृषि गतिविधियों जैसे सौंदर्य सेवाएँ, रिटेल और हस्तशिल्प उत्पादन में प्रशिक्षण उपलब्ध कराया गया (MoRD, 2015)।

महत्वपूर्ण रूप से, जीविका सामूहिक उद्यमिता को प्रोत्साहित करता है। विशेषकर डेयरी और हस्तशिल्प में महिलाओं के उत्पादक समूहों ने बाजार में दृश्यता प्राप्त की है। यह सामूहिक मॉडल जोखिम को कम करता है और क्रय एवं विपणन में पैमाने की अर्थव्यवस्था (economies of scale) प्रदान करता है (World Bank, 2020)।

फिर भी बाधाएँ बनी हुई हैं। अधिकांश उद्यम सूक्ष्म स्तर पर हैं और स्थानीय बाजारों तक सीमित हैं, जिससे लाभप्रदता कम रहती है। महिलाओं की गतिशीलता पर प्रतिबंध और बड़े बाजारों तक सीमित पहुँच विस्तार को रोकते हैं। अपर्याप्त अवसंरचना, विस्तार हेतु ऋण की कमी और पुरुष–प्रधान मूल्य शृंखलाएँ भी प्रमुख अवरोध बनी हुई हैं (Desai & Joshi, 2019)।

5.4 निर्णय–निर्धारण शक्ति और पारिवारिक गतिशीलता

जीविका के माध्यम से आर्थिक सशक्तिकरण घरेलू निर्णय–निर्धारण क्षेत्र तक विस्तारित हुआ है। पारंपरिक रूप से, बिहार की महिलाएँ पारिवारिक वित्त, बच्चों की शिक्षा या स्वास्थ्य संबंधी निर्णयों में सीमित प्रभाव रखती थीं। SHGs में भागीदारी ने इस गतिशीलता को बदल दिया है, क्योंकि महिलाओं को स्वतंत्र आय स्रोत और वित्तीय साक्षरता प्राप्त हुई है।

कबीर (1999) का संसाधन–एजेंसी–उपलब्धि (resources–agency–achievements) ढाँचा यहाँ प्रासंगिक है। महिलाएँ SHG ऋणों के माध्यम से संसाधन प्राप्त करती हैं, स्वतंत्र व्यय–निर्णय लेकर अपनी एजेंसी का प्रयोग करती हैं और परिणामस्वरूप पारिवारिक कल्याण में सुधार प्राप्त करती हैं। नैयर (2016) ने पाया कि बिहार की SHG महिलाएँ बच्चों की शिक्षा, स्वास्थ्य व्यय और परिसंपत्ति खरीद जैसे निर्णयों में अधिक भागीदारी की रिपोर्ट करती हैं।

इसके अतिरिक्त, जीविका ने महिलाओं की गतिशीलता पर पितृसत्तात्मक प्रतिबंधों को चुनौती दी है। समूह बैठकों, प्रशिक्षण कार्यक्रमों और exposure visit ने महिलाओं को अपने गाँवों से बाहर जाने, अधिकारियों से बातचीत करने और बाजारों से सौदेबाजी करने के अवसर दिए हैं। इन अनुभवों ने धीरे–धीरे लैंगिक मानदंडों को बदला है और महिलाओं का आत्मविश्वास बढ़ाया है।

हालाँकि, घरेलू स्तर पर यह परिवर्तन हमेशा सहज नहीं होता। कई मामलों में महिलाओं की आर्थिक भूमिकाओं में वृद्धि से घरेलू तनाव या कार्यभार का बोझ बढ़ता है, क्योंकि महिलाएँ उत्पादन और प्रजनन संबंधी जिम्मेदारियों के बीच संतुलन बनाने के लिए संघर्ष करती हैं (Mehrotra, 2017)। अतः कार्यक्रम की दीर्घकालिक सफलता केवल आर्थिक परिणामों पर नहीं, बल्कि महिलाओं की नई भूमिकाओं की सांस्कृतिक स्वीकृति पर भी निर्भर करती है।

5.5 सामाजिक पूँजी और सामूहिक सशक्तिकरण

व्यक्तिगत लाभों से परे, जीविका सामाजिक पूँजी विश्वास, पारस्परिकता और सामूहिक क्रियाशीलता के नेटवर्क निर्माण में सहायक रहा है। SHGs एकजुटता समूह (solidarity groups) के रूप में कार्य करते हैं जहाँ महिलाएँ अनुभव साझा करती हैं, विवाद सुलझाती हैं और संकट के समय एक–दूसरे का सहारा बनती हैं।

SHGs का संघटन ग्राम संगठनों (VOs) और क्लस्टर–स्तरीय महासंघों (CLFs) में किया जाता है, जिससे सामूहिक सौदेबाजी शक्ति बढ़ती है। ये संघटन बैंकों से ऋण की बातचीत करते हैं, सरकारी योजनाओं तक पहुँच सुनिश्चित करते हैं और सामुदायिक अधिकारों की वकालत करते हैं। उदाहरणस्वरूप, जीविका महिलाएँ स्थानीय व्यापारियों से उचित मूल्य के लिए सामूहिक रूप से वार्ता करती हैं और गाँव के बुनियादी ढाँचे में सुधार हेतु अभियान चलाती हैं (World Bank, 2020)।

सामाजिक पूँजी राजनीतिक सशक्तिकरण में भी रूपांतरित होती है। जीविका सदस्याएँ ग्राम सभाओं में भाग लेती हैं, पंचायत निर्णयों को प्रभावित करती हैं और कुछ मामलों में स्थानीय चुनाव भी लड़ती हैं। यह दृश्यता महिलाओं की शासन में आवाज को मजबूत करती है और जमीनी लोकतंत्र को सुदृढ़ करती है (Datta, 2015)।

इसके अतिरिक्त, सामूहिक सशक्तिकरण का प्रभाव सामाजिक मुद्दों पर भी पड़ता है जैसे बाल–विवाह, घरेलू हिंसा और स्वास्थ्य जागरूकता। महिलाओं के समूहों ने विवाह की आयु बढ़ाने, स्वच्छता सुधारने और मातृ स्वास्थ्य को प्रोत्साहित करने के लिए अभियान चलाए हैं, जिससे यह प्रदर्शित होता है कि आर्थिक सशक्तिकरण व्यापक सामाजिक परिवर्तन का उत्प्रेरक बन सकता है (Desai & Joshi, 2019)।

समग्र रूप से, साक्ष्य दर्शाते हैं कि जीविका ने बिहार में महिलाओं की आर्थिक स्थिति पर रूपांतरकारी प्रभाव डाला है। इस कार्यक्रम ने

1. आय और बचत में वृद्धि की है।
2. सुलभ ऋण और औपचारिक बैंकिंग तक पहुँच का विस्तार किया है।
3. रोजगार और उद्यमिता के अवसर उत्पन्न किए हैं।
4. परिवारों में निर्णय–निर्धारण क्षमता को सुदृढ़ किया है।
5. सामाजिक पूँजी और सामूहिक सक्रियता को मजबूत किया है।

हालाँकि, यह प्रभाव सभी क्षेत्रों और सामाजिक–आर्थिक समूहों में समान नहीं है। जाति–व्यवस्था, साक्षरता स्तर और अवसंरचनात्मक विषमताएँ परिणामों को प्रभावित करती हैं। जहाँ मध्यम–आय वर्ग की ग्रामीण महिलाएँ अधिक लाभान्वित होती हैं, वहीं हाशिए पर स्थित महिलाएँ जीविका की संभावनाओं का पूर्णतः लाभ उठाने में कभी–कभी बाधाओं का सामना करती हैं।

सारणी 1: बिहार में महिलाओं की आर्थिक स्थिति पर NRLM/जीविका का प्रभाव

आयाम (Dimension)	**सूचकांक (Indicators)**	**SHG से जुड़ने से पूर्व**	**SHG (जीविका) से जुड़ने के बाद**	**स्रोत (Source)**
आय (Income)	प्रति महिला औसत मासिक आय (₹)	1,200 – 1,800	3,000 – 4,500	Datta (2015); World Bank (2020)
बचत (Savings)	औसत वार्षिक पारिवारिक बचत (₹)	2,000 से कम	8,000 – 12,000	Datta (2015); Govt. of Bihar (2019)
ऋण तक पहुँच (Access to Credit)	औपचारिक बैंक ऋण प्राप्त करने वाली महिलाओं का प्रतिशत	9 प्रतिशत	65 प्रतिशत	Government of Bihar (2019)
ऋण का आकार (Loan Size)	प्रति SHG सदस्य औसत ऋण (₹)	5,000 से कम	40,000 – 60,000	World Bank (2020)
रोजगार,उद्यम (Employment/Enterprises)	आय–सृजनकारी गतिविधियों में संलग्न महिलाओं का प्रतिशत	18 प्रतिशत	58 प्रतिशत	Jha (2018); MoRD (2015)
निर्णय–निर्धारण (Decision & making)	घरेलू वित्तीय निर्णयों में भाग लेने वाली महिलाओं का प्रतिशत	23 प्रतिशत	71 प्रतिशत	Nair (2016)
गतिशीलता एवं एजेंसी (Mobility & Agency)	प्रशिक्षणध्बाजार हेतु गाँव से बाहर यात्रा करने वाली महिलाओं का प्रतिशत	12 प्रतिशत	55 प्रतिशत	Nair (2016) Desai & Joshi (2019)
सामाजिक पूँजी (Social Capital)	स्वास्थ्य, शिक्षा, अधिकार आदि सामूहिक क्रियाओं में संलग्न महिलाओं का प्रतिशत	15 प्रतिशत	60 प्रतिशत	World Bank (2020)

6. चुनौतियाँ एवं सीमाएँ

यद्यपि NRLM/जीविका ने बिहार में महिलाओं की आर्थिक स्थिति सुधारने में उल्लेखनीय सफलता प्रदर्शित की है, तथापि यह कार्यक्रम चुनौतियों से रहित नहीं है। आय, बचत और सशक्तिकरण में उल्लेखनीय प्रगति के बावजूद संरचनात्मक, संस्थागत और सामाजिक–सांस्कृतिक अवरोध अब भी इसकी रूपांतरकारी क्षमता को सीमित करते हैं। इस खंड में इन चुनौतियों का आलोचनात्मक परीक्षण किया गया है, जिन्हें तीन श्रेणियों वित्तीय एवं संस्थागत सीमाएँ, सामाजिक–सांस्कृतिक अवरोध, तथा कार्यक्रमगत मुद्देकृमें विभाजित किया गया है।

6.1 वित्तीय एवं संस्थागत चुनौतियाँ

हालाँकि जीविका ने महिलाओं की औपचारिक ऋण तक पहुँच का विस्तार किया है, अधिकांश ऋण अब भी छोटे और अल्पकालिक हैं। प्रति सदस्य औसत ऋण राशि, पूर्व की तुलना में अधिक होते हुए भी, अक्सर लाभकारी उद्यम शुरू करने या उन्हें विस्तार देने के लिए अपर्याप्त रहती है (World Bank, 2020)। कई महिलाएँ बड़ी वित्तीय आवश्यकताओं हेतु अब भी अनौपचारिक साहूकारों पर निर्भर रहती हैं, जिससे पूर्ण वित्तीय समावेशन का लक्ष्य बाधित होता है (Mehrotra, 2017)।

SHG आधारित उत्पादन को स्थायी बाजारों से जोड़ना एक प्रमुख चुनौती है। महिलाएँ कृषि, दुग्ध उत्पादन या हस्तशिल्प में संलग्न होती हैं, किंतु इन उत्पादों की माँग प्रायः कम होती है या वे स्थानीय बाजारों तक सीमित रहते हैं। मजबूत अग्रगामी संपर्क (forward linkages) के अभाव में महिलाओं के उद्यम व्यापक बाजारों में प्रतिस्पर्धा करने में संघर्षरत रहते हैं और लाभ सीमित रह जाता है (Desai & Joshi, 2019)।

संस्थागत क्षमता विभिन्न जिलों में अत्यधिक असमान है। कुछ SHGs में उचित अभिलेख–रखरखाव, नेतृत्व प्रशिक्षण या विस्तार सेवाओं तक पहुँच का अभाव है। साथ ही, ग्रामीण सड़कों की खराब स्थिति, भंडारण सुविधाओं की कमी और अविश्वसनीय बिजली जैसी अवसंरचनात्मक कमियाँ महिलाओं द्वारा संचालित उद्यमों की प्रतिस्पर्धात्मकता को घटाती हैं (Jha, 2018)।

6.2 सामाजिक–सांस्कृतिक अवरोध

बिहार में गहराई से जमे पितृसत्तात्मक मानदंड महिलाओं की स्वायत्तता को सीमित करते हैं। अनेक परिवारों में महिलाओं की आय अब भी पुरुष परिजनों द्वारा नियंत्रित की जाती है और उनके आर्थिक योगदान का मूल्यांकन कम किया जाता है (Nair, 2016)। गतिशीलता पर प्रतिबंध उन्हें प्रशिक्षण सत्रों या बाहरी बाजारों से जुड़ने से रोकता है, विशेषकर रूढ़िवादी ग्रामीण संदर्भों में।

यद्यपि महिलाएँ आय–सृजनकारी गतिविधियों में भाग लेती हैं, किंतु बाल–देखभाल, खाना पकाना और अवैतनिक घरेलू श्रम जैसी पारिवारिक जिम्मेदारियाँ अब भी उनकी प्राथमिक भूमिका मानी जाती हैं। यह "दोहरा बोझ" उनके कार्यभार को बढ़ाता है और कभी–कभी पारिवारिक तनाव का कारण बनता है। उत्पादन और प्रजनन संबंधी भूमिकाओं के बीच संतुलन का दबाव महिलाओं द्वारा उद्यम या SHG गतिविधियों को देने वाले समय को कम कर देता है (Kabeer, 1999)।

जाति, वर्ग और साक्षरता के अंतर जीविका की समावेशिता को प्रभावित करते हैं। हाशिए पर स्थित जातियों या सबसे गरीब परिवारों की महिलाएँ अक्सर SHGs के भीतर भेदभाव का सामना करती हैं, जिससे उन्हें नेतृत्व भूमिकाओं या ऋण अवसरों तक सीमित पहुँच मिलती है। इसी प्रकार, निरक्षर महिलाएँ अभिलेख–रखरखाव और वित्तीय प्रबंधन में कठिनाई महसूस करती हैं, जिससे वे कार्यक्रम का पूर्ण लाभ नहीं उठा पातीं (Desai & Joshi, 2019)।

6.3 कार्यक्रमगत एवं नीतिगत सीमाएँ

क्रियान्वयन में विलंब और नौकरशाहीः

यद्यपि नीतिगत ढाँचे सुदृढ़ हैं, किंतु क्रियान्वयन अक्सर नौकरशाही बाधाओं, धनराशि वितरण में विलंब और विभिन्न सरकारी विभागों के बीच समन्वय की कमी के कारण धीमा पड़ता है (MoRD, 2015)। कुछ जिलों में कर्मचारियों की कमी और समुदाय पेशेवरों के लिए अपर्याप्त प्रशिक्षण प्रभावी निगरानी में बाधा डालते हैं।

जीविका की अधिकांश सफलता बाहरी वित्तपोषण, विशेषकर विश्व बैंक से प्राप्त सहायता, पर आधारित रही है। इससे दीर्घकालिक स्थिरता को लेकर चिंताएँ उत्पन्न होती हैं, क्योंकि दाता सहयोग के घटने पर कार्यक्रम की वित्तीय स्वायत्तता सुनिश्चित करना एक गंभीर चुनौती है (World Bank, 2020)।

बिहार के कुछ जिलों ने महिलाओं के सशक्तिकरण और आजीविका सृजन के संदर्भ में मजबूत परिणाम प्रदर्शित किए हैं, जबकि अन्य जिले संस्थागत समर्थन की कमी या सामाजिक प्रतिरोध के कारण पिछड़ गए हैं। यह असमानता दर्शाती है कि कार्यक्रम की प्रभावशीलता संदर्भ–विशिष्ट है और पूरे राज्य में समान रूप से सामान्यीकृत नहीं की जा सकती (Jha, 2018)।

6.4 प्रभाव मापन में कार्यप्रणालीगत सीमाएँ

अंततः, कार्यक्रम के प्रभाव को मापने की कार्यप्रणाली में भी सीमाएँ हैं। अनेक मूल्यांकन मुख्यतः मात्रात्मक सूचकोंकृजैसे आय या ऋण तक पहुँच पर केंद्रित रहते हैं, जबकि सशक्तिकरण के गुणात्मक आयामकृजैसे आत्मविश्वास, गरिमा या लैंगिक हिंसा में कमी की उपेक्षा की जाती है (Datta, 2015)। इसके अतिरिक्त, अधिकांश अध्ययन अल्प और मध्यम–कालिक परिणामों को ही पकड़ते हैं, जबकि सशक्तिकरण एक दीर्घकालिक प्रक्रिया है जो वर्षों में विकसित होती है।

सामूहिक रूप से, ये चुनौतियाँ इस तथ्य को रेखांकित करती हैं कि यद्यपि जीविका ने प्रभावशाली प्रगति की है, इसकी सफलता अब भी तंत्रगत और संरचनात्मक अवरोधों से सीमित है। वित्तीय सीमाएँ, कमजोर बाजार एकीकरण, पितृसत्तात्मक अवरोध और असमान संस्थागत क्षमता इस कार्यक्रम को उसकी पूर्ण रूपांतरकारी क्षमता तक पहुँचने से रोकती हैं। ये चुनौतियाँ इसकी उपलब्धियों को नकारती नहीं हैं, बल्कि सतत नीतिगत नवाचार, मजबूत संस्थागत ढाँचे और गहरे सामाजिक–सांस्कृतिक परिवर्तन की आवश्यकता को रेखांकित करती हैं।

7. निष्कर्ष

राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन (NRLM), जो बिहार में 'जीविका' के रूप में लागू किया गया है, भारत में महिलाओं के सशक्तिकरण और गरीबी उन्मूलन हेतु राज्य–प्रेरित पहलों में से एक सबसे महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। लाखों ग्रामीण महिलाओं को स्व–सहायता समूहों (SHGs) में संगठित करके इस कार्यक्रम ने आय बढ़ाने, वित्तीय समावेशन सुनिश्चित करने और सामूहिक सक्रियता को प्रोत्साहित करने के मार्ग प्रशस्त किए हैं। इस अध्ययन में प्रस्तुत साक्ष्य यह संकेत देते हैं कि जीविका ने महिलाओं की आर्थिक स्थिति पर रूपांतरकारी प्रभाव डाला है, यद्यपि इसकी संभावनाएँ अब भी तंत्रगत और संरचनात्मक चुनौतियों द्वारा सीमित हैं। SHGs में भागीदारी के माध्यम से महिलाओं की आय और पारिवारिक बचत में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। सामूहिक बचत और कम ब्याज वाले ऋण तक पहुँच की व्यवस्था ने परिवारों को वित्तीय सुरक्षा प्रदान की है, जिससे साहूकारों पर निर्भरता कम हुई है और संकटों के प्रति लचीलापन बढ़ा है। कार्यक्रम ने औपचारिक बैंकिंग और ऋण सुविधाओं तक महिलाओं की पहुँच का भी विस्तार किया है, जिससे वे कम ब्याज दरों पर ऋण प्राप्त कर सकी हैं। तथापि, ऋण की छोटी राशि और प्रक्रियागत जटिलताएँ महिलाओं के उद्यमों के विस्तार और दीर्घकालिक लाभप्रदता को सीमित करती हैं।

महत्त्वपूर्ण यह भी है कि जीविका ने कृषि, पशुपालन और सूक्ष्म उद्यमों में नए आजीविका अवसर उत्पन्न किए हैं। कौशल विकास और exposure visits ने महिलाओं को लघु व्यवसाय शुरू करने और कृषि एवं उससे संबंधित गतिविधियों में उत्पादकता सुधारने में सक्षम बनाया है। किंतु, मजबूत बाजार संपर्क, अवसंरचना की कमी और महिलाओं की गतिशीलता पर पितृसत्तात्मक प्रतिबंधों के कारण अधिकांश उद्यम स्थानीय और सूक्ष्म स्तर तक ही सीमित रह जाते हैं। पारिवारिक निर्णय–निर्धारण में भी सुधार हुआ है, जहाँ महिलाएँ वित्त, स्वास्थ्य देखभाल और बच्चों की शिक्षा से संबंधित निर्णयों में बढ़–चढ़कर भाग ले रही हैं। महिलाओं की एजेंसी का यह विस्तार सीधे उनके आर्थिक योगदान से जुड़ा है, जो कबीर (1999) के संसाधन–एजेंसी–उपलब्धि मॉडल के अनुरूप है। साथ ही, महिलाएँ अब भी उत्पादक और प्रजनन कार्यों का "दोहरा बोझ" वहन करती हैं, जो कभी–कभी पारिवारिक तनाव का कारण बनता है।

व्यक्तिगत लाभों से आगे बढ़कर, जीविका ने सामूहिक सशक्तिकरण पर भी उल्लेखनीय प्रभाव डाला है। SHGs और उनके ग्राम तथा क्लस्टर स्तर के महासंघों ने ऐसे एकजुटता नेटवर्क विकसित किए हैं, जो केवल आर्थिक सहयोग तक सीमित न रहकर बाल–विवाह, स्वास्थ्य जागरूकता और स्थानीय शासन में सहभागिता जैसे मुद्दों को संबोधित करते हैं। अनेक SHG सदस्याएँ अब ग्राम सभाओं में सक्रिय भूमिका निभा रही हैं, पंचायत के निर्णयों को प्रभावित कर रही हैं और ग्रामीण शासन में महिलाओं की आवाज को मजबूत कर रही हैं। ये परिणाम इंगित करते हैं कि जीविका ने घरेलू स्तर पर सशक्तिकरण के साथ–साथ जमीनी लोकतंत्र में भी योगदान दिया है।

फिर भी, कुछ स्थायी चुनौतियों को स्वीकार करना आवश्यक है। इनमें छोटी ऋण राशि, अपर्याप्त बाजार एकीकरण, जिलों में असमान संस्थागत क्षमता SHGs के भीतर जाति–आधारित बहिष्करण और पितृसत्तात्मक मानदंडों से उत्पन्न प्रतिरोध सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त, कार्यक्रम अब भी विश्व बैंक से प्राप्त बाहरी वित्तपोषण पर अत्यधिक निर्भर है, जिससे इसकी दीर्घकालिक स्थिरता पर प्रश्न उठते हैं।

इन परिस्थितियों में, कुछ नीतिगत दिशाएँ मिशन की प्रभावशीलता को सुदृढ़ कर सकती हैं। उत्पादक समूहों, ई–कॉमर्स प्लेटफार्मों और कॉर्पोरेट पहलों से गठबंधन के माध्यम से मजबूत बाजार संपर्क स्थापित करने की आवश्यकता है, ताकि महिलाएँ बेहतर मूल्य प्राप्त कर सकें और बड़े बाजारों तक पहुँच बना सकें। ऋण की मात्रा बढ़ाई जानी चाहिए और पुनर्भुगतान प्रणाली को लचीला बनाया जाना चाहिए, साथ ही वित्तीय साक्षरता कार्यक्रमों का विस्तार कर महिलाओं को खाता–प्रबंधन, डिजिटल वित्त और बीमा को स्वतंत्र रूप से संभालने के लिए सक्षम बनाया जाना चाहिए। कौशल विकास, नेतृत्व प्रशिक्षण और उद्यमिता शिक्षा में सतत निवेश आवश्यक है, साथ ही ग्रामीण अवसंरचना–सड़कें, बिजली और भंडारण सुविधाएँकृमें सुधार भी समान रूप से महत्त्वपूर्ण है। पुरुषों के लिए लैंगिक संवेदनशीलता अभियानों और सामुदायिक स्तर पर बाल देखभाल सहयोग की व्यवस्था से महिलाओं के दोहरे बोझ को कम किया जा सकता है। हाशिए की महिलाओं को SHGs में शामिल करने हेतु विशेष उपायों की आवश्यकता है। अंततः, जीविका की संस्थागत स्थिरता को राज्य सरकार द्वारा अधिक बजटीय आवंटन और MGNREGA, PDS तथा स्वास्थ्य मिशनों जैसे अन्य प्रमुख कार्यक्रमों के साथ मजबूत अभिसरण के माध्यम से प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

समग्र रूप से, जीविका यह दर्शाता है कि महिलाओं की सामूहिक संस्थाएँ केवल गरीबी–उन्मूलन का साधन नहीं, बल्कि सामाजिक रूपांतरण की उत्प्रेरक भी हैं। यह कार्यक्रम इंगित करता है कि सशक्तिकरण उन्मुख नीतियाँ गरीबी और पितृसत्ता से प्रभावित संदर्भों में भी सफल हो सकती हैं, यदि वे भागीदारी, संस्थागत निर्माण और समावेशिता पर बल दें। फिर भी, सशक्तिकरण कोई तात्कालिक उपलब्धि नहीं हैय यह एक सतत प्रक्रिया है। जीविका की सफलता का वास्तविक मापदंड केवल आय वृद्धि में नहीं, बल्कि आजीविकाओं को टिकाऊ बनाने, लैंगिक संबंधों को पुनर्गठित करने और शासन एवं सामुदायिक विकास में महिलाओं की भूमिका को सुदृढ़ करने की क्षमता में निहित है। आगे की चुनौती नीति–निर्माताओं के लिए यह है कि वे इन उपलब्धियों को सुदृढ़ करें और सुनिश्चित करें कि बिहार की ग्रामीण महिलाएँ विकास की लाभार्थी भर न रहकर सामाजिक परिवर्तन की चालक शक्ति बनें।

References

- Braun, V., & Clarke, V. (2006). Using thematic analysis in psychology. *Qualitative Research in Psychology, 3*(2), 77–101. https://doi.org/10.1191/1478088706qp063oa
- Chambers, R., & Conway, G. (1992). *Sustainable rural livelihoods: Practical concepts for the 21st century* (IDS Discussion Paper 296). Institute of Development Studies.
- Datta, U. (2015). Socio-economic impacts of Jeevika: Evidence from Bihar. *Economic and Political Weekly, 50*(25), 62–70.
- Desai, S., & Joshi, O. (2019). Gender inequalities in Bihar: Emerging evidence and policy challenges. *Journal of Development Studies, 55*(1), 92–110. https://doi.org/10.1080/00220388.2018.1487055
- DFID. (1999). *Sustainable livelihoods guidance sheets*. Department for International Development. https://www.livelihoodscentre.org
- Government of Bihar. (2019). *Annual report of Jeevika*. Department of Rural Development, Government of Bihar.
- Jha, R. (2018). Rural poverty and livelihoods in Bihar: Challenges of sustainable development. *Journal of Rural Development, 37*(3), 421–440.
- Kabeer, N. (1999). Resources, agency, achievements: Reflections on the measurement of women's empowerment. *Development and Change, 30*(3), 435–464. https://doi.org/10.1111/1467-7660.00125
- Mehrotra, S. (2017). Can national rural livelihood mission succeed where others failed? *Indian Journal of Human Development, 11*(1), 1–23. https://doi.org/10.1177/0973703017713408
- Ministry of Rural Development (MoRD). (2011). *Framework for implementation: National Rural Livelihoods Mission*. Government of India.
- Ministry of Rural Development (MoRD). (2015). *Convergence strategy under NRLM*. Government of India.

- Moser, C. (1993). *Gender planning and development: Theory, practice and training*. Routledge.
- Nair, T. (2016). Self-help groups and women's empowerment: A study in Bihar. *Indian Journal of Gender Studies, 23*(2), 240–258. https://doi.org/10.1177/0971521515625831
- Planning Commission. (2013). *Poverty estimates for 2011–12*. Government of India. http://planningcommission.gov.in
- Ravi, S., & Gakhar, S. (2020). *Financial inclusion and women's empowerment in rural India*. Brookings India Report.
- Razavi, S., & Miller, C. (1995). From WID to GAD: Conceptual shifts in the women and development discourse (UNRISD Occasional Paper No. 1). United Nations Research Institute for Social Development.
- Sen, A. (1999). *Development as freedom*. Oxford University Press.
- World Bank. (2011). *Implementation completion and results report on SGSY*. World Bank Group.
- World Bank. (2020). *Bihar Transformative Development Project: Empowering women through Jeevika*. World Bank Group.

◂◂ ▸▸

आचार्य धनंजय एवं आचार्य धनिक की दृष्टि में साधारणीकरण

डॉ. सत्येन्द्र कुमार सिंह*

संस्कृत काव्यशास्त्र की एक सुदृढ़ परम्परा रही है। काव्यशास्त्र के आरम्भिक चरण से ही आचार्यों ने काव्यशास्त्रीय तत्वों का तत्वतः विवेचन किया है, जिनमें रस, गुण, रीति, अलंकार, शब्दशक्ति आदि प्रमुख हैं। इसी परम्परा का निर्वाह करते हुए सहोदर अचार्य धनिक तथा धनंजय ने काव्यशास्त्रीय एवं नाट्यशास्त्रीय तत्वों का विवेचन किया है। आचार्य धनंजय दशरूपक नामक नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ लिखा जिस पर उनके भाई धनिक ने 'अवलोक' नामक टीका लिखकर उसे व्याख्यायित किया, जिसके कारण इन दोनों भाइयों का नाम नाट्यशास्त्र एवं काव्यशास्त्र की परम्परा में बड़े आदर के साथ लिया जाता है। ये दोनों भाई परमारवंशी राजा मुंज या वाक्पति द्वितीय के आश्रित विद्वान थे, जिसका उल्लेख स्वयं इन्होंने किया है—

विष्णोः सुतेनापि धनंजयेन विद्वतमनोरागनिबंधहेतुः।

आविष्कृत न मुंजमहीरागोष्ठीवैदग्ध्य भाजादरूपकमेतत् ।[1]

अतः इससे स्पष्ट होता है कि आचार्य धनिक एवं धनंजय का समय 10वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध एवं 11वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। इनका ग्रन्थ 'दशरूपक' नाट्यशास्त्र पर आधारित है। यह नाट्यशास्त्र का विशाल ग्रन्थ है, जो चार प्रकाशों में लगभग 300 कारिकाओं में निबद्ध है, जिसके 'अवलोक' टीका ने अधिक रमणीयता प्रदान की है। इस ग्रन्थ में नाट्यशास्त्रीय तत्त्वों यथा— प्रयोजन, नाटक-लक्षण, सन्धियाँ, अर्थोपक्षेपक, वृत्तियाँ, रस-प्रधानता, पात्र-संरचना का तार्किक विवेचन है।

आचार्य धनंजय एवं धनिक रस-सिद्धान्त के प्रबल समर्थक थे साथ ही ध्वनि सिद्धान्त के प्रबल विरोधी भी थे। वस्तुतः ये रस-तत्त्व के प्रसिद्ध व्याख्याता भट्टनायक के अनुयायी थे। भट्टनायक के अनुयायी होने के कारण आचार्य धनंजय एवं धनिक भाव्य-भावक व्यापार के समर्थक हैं।[2] इन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "अति न रसादीनां काव्येन सह व्यंग्यव्यंजकभाव: किया तर्जहिं भाव्यभावक संबंध: काव्यों हि भावों भाव्यारसादय:।।"[3] अर्थात् रसादि का काव्य के साथ व्यञ्जनव्यञ्जक भाव सम्बन्ध नहीं है, वास्तव में काव्य भावक है जबकि रसादि भाव्य है। अतः इनमें भाव्य-भावक सम्बन्ध है ।रस-निष्पत्ति के सन्दर्भ में लिखते हैं कि—

"विभावैर्नुभावैश्च सात्विकैर्व्यभिचारिभिः।

आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः॥"[4]

अर्थात् रसावयव विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव और संचारी भावों से जब स्थायी भाव उद्बुद्ध होकर आस्वाद्यता को प्राप्त कर लेता है, तब उसे रस कहा जाता है और यह रस तत्त्व सामाजिक सहृदय के द्वारा आस्वादित किया जाता है न कि अनुकार्य या अनुकर्ता द्वारा, यह मान्यता वास्तव में भट्टनायक की स्थापना है। भट्टनायक की भाँति ही रस के साधारणीकरण के सम्बन्ध में ये लिखते हैं कि—

"धीरोदात्ताद्यवस्थायानां रामादिः प्रतिपादकः।

विभावयति रत्यादीन्स्वदन्ते रसिकस्य ते॥"[5]

अर्थात् नाट्यादि में प्रदर्शित रामादि धीरोदात्तादि अवस्थाएँ आलम्बन का प्रतिपादक होती हैं। यह सामाजिक सहृदय के रत्यादि स्थायी भाव को भावित करती हैं। इस तथ्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य धनंजय लिखते हैं कि—"नहि क्यों योगिन इव ध्यान चक्षुषा ध्यात्वा प्रातिस्विकी।रामादीनामवस्थामितिहासवदुपनिंबधन्ति किंतर्हि?सर्वलोकसाधारणा सत्वों प्रेक्षा कृत

---

* असि० प्रो० संस्कृत, हंडिया पी० जी० कॉलेज हंडिया, प्रयागराज

सन्निधि:धीरोदात्ताद्यवस्था:कश्चिदाश्रयमात्रदायिनी:दधति॥"[6]अर्थात कवि अपने अभ्यास के बल पर रामादि की विविध अवस्थाओं का अंकन ऐतिहासिक ग्रन्थों के प्रभृत नहीं करता, अपितु अपनी सम्भावनाओं के संसार में सर्वलोकसाधारण रूप से चित्रित करता है जिससे सहृदय को प्रत्यक्ष सा प्रतीत होता है। इस प्रकार से सामाजिक सहृदय को अलौकिक रसास्वाद होता है। उपर्युक्त मान्यताओं को स्पष्ट करते हुए डॉ० भोलाशंकर व्यास निम्न तथ्यों को रखते हैं–

- साहित्यकार रामादि के सद्चरित्रों का इतिहास या पुराण जैसा नहीं करता है।
- कवि रामादि की विभिन्न दशाओं को सहृदयानुकूल बनाता है।
- कवि अपनी कल्पना शक्ति के द्वारा रामादि के चरित्र का विशेष निर्माण करता है।
- जैसा कि सहृदय लौकिक जीवन में अनुभव करता है।

केवल इतना ही नहीं, आचार्य इस तथ्य को और अधिक सूक्ष्म दृष्टि स्पष्ट करने के लिए कुछ प्रश्न स्वयं उठाते हैं यथा– जब सीतादि अपने वास्तविक व्यक्तित्व विशेष को छोड़कर साधारण नारीत्व का ग्रहण करती है तब उनका निष्ठानिष्ठ कैसे होगा? इनमें प्रति अनुभूति कैसी होगी? इनका उपदान क्यों किया जाता है? इस शंका निवारणार्थ आचार्य धनंजय लिखते हैं–

"क्रीड़ा मृंमहर्यद्वत् बालानां द्विरदाविभि:।
स्वोत्साह: स्वदते तद्षच्छोतृणामर्जनादिभि:।॥"[7]

अर्थात् जैसे बालक मिट्टी के घोड़े-हाथी को वास्तविक घोड़ा समझकर खेलते एवं आनन्द लेते हैं, ठीक उसी प्रकार सामाजिक सहृदय अर्जुनादि पात्रों को उत्साहादि में देखकर स्वयं भी उत्साह का अनुभव करते हैं। इस भावानुभूति को आचार्य धनंजय एवं धनिक नाट्य या काव्य रस को लौकिक भावानुभूति से सर्वथा विलक्षण रूप में प्रतिपादित करते हैं।साथ ही आचार्य धनंजय ने नटादि में रसानुभूति को सर्वथा नकारते नहीं है।[8]

आचार्य धनंजय एवं धनिक के रससिद्धान्त का अध्ययन करने पर रस-निष्पत्ति प्रक्रिया के संदर्भ में तीन मुख्य बातें उभरकर सामने आती हैं–

1. रस तात्पर्यार्थ होता है न कि ध्वनि वाली आचार्यों की मान्यतानुसार व्यंग्यार्थ।
2. विभावादि से रस की भावन होने के कारण उसमें भाव्य-भावक सम्बन्ध होता है।
3. वास्तविक रूप में रस-अनुभूति सामाजिक सहृदय कको होती है, परन्तु इसकी अनुभूति नटादि को भी हो सकती है।

आचार्य धनंजय एवं धनिक भट्टनायक द्वारा प्रतिपादित साधारणीकरण की प्रक्रिया का समर्थन ही नहीं करते, अपितु अपनी विशिष्ट शैली में साधारणीकरण की प्रक्रिया को और अधिक स्पष्ट भी करते हैं। आचार्य धनंजय भट्टनायक द्वारा प्रतिपादित साधारणीकरण की प्रक्रिया में भोजकत्व व्यापार को छोड़कर उसका ग्रहण किया है। आचार्य भट्टनायक के भोज्य-भोजक सम्बन्ध के स्थान पर धनंजय भाव्य-भावक सम्बन्ध मानते हैं। वास्तव में आचार्य भट्टनायक एवं आचार्य धनंजय की धारणाओं में अन्तर रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया में है न कि साधारणीकरण की प्रक्रिया में। काव्य या नाट्य में रामादि रस को भावित करते हैं, तात्पर्य रामादि के भावों द्वारा भासित किया जाना है।

आचार्य धनंजय का मानना है कि रामादि अपने विशेषत्व को छोड़कर सर्वलोक साधारणता ग्रहण करते हि विभावादि का साधारणीकरण है, जिसका तात्पर्य यह है कि मोह संकटता का निवारण और तादात्मीकरण, चाहे तो साधारणीकरण व्यापता कहे, जो पूर्ण होता हैं, घोड़े-हाथी के खेल भावना से, कलात्मकता से। सामाजिक सहृदय को उत्कृष्ट अभिनय या सौन्दर्योत्पादक वर्णन से विभावादि को वास्तविक समझकर तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं।

आचार्य धनंजय तथा धनिक की स्पष्ट मान्यता थी है कि रामादि अपने व्यक्तितत्व के वैशिष्ट्य का त्याग कर रस का हेतु बनते हैं, अर्थात् सामाजिक सहृदय के मानस हृदय में रस-प्रतीति का कारण बनते हैं। सामाजिक सहृदय भी वास्तविक मानकर रत्यादि का आस्वादन करता है। आचार्य धनिक इस तथ्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि रामादि अपने वैशिष्ट्य का परित्याग कर सर्वसाधारण के बन जाते हैं, जिनको सत्य मानकर सामाजिक रसास्वादन करता है। यह रसास्वादन लौकिक रसास्वादन से सर्वथा विलक्षण होता है। वास्तव में रामादि के रत्यादिभाव ही सामाजिक मानस में रत्यादि को उद्दीप्त करते हैं।

स्पष्टतः आचार्य धनंजय के साधारणीकरण का पहला कार्य रामादि के विशेषत्व का त्याग तथा सामान्यत्व ग्रहण तात्पर्य विशिष्ट अनुभूतियों का परित्याग एवं सामान्य अनुभूतियों को ग्रहण अर्थात जो सामाजिक सहृदय को अनुभूति होगी वह विभावादि की अनुभूति है। इस सम्बन्ध में डॉ. सुलेखचन्द्र शर्मा लिखते हैं कि—"धनंजय विभावों की वस्तुनिष्ठ सार्थकता भावों का परिज्ञान करने एवं उन्हें पुष्ट करने में स्वीकार करते हैं।"[9]

आचार्य धनंजय एवं धनिक एक अन्य प्रश्न उठाते हैं कि वास्तव में साधारणीकरण करता कौन हैं ? सामाजिक सहृदय या कवि? या दोनों? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य धनंजय मात्र इतना कहते हैं कि नाट्यादि में रामादि अनुकूल भावों के प्रतिपादक होते हैं जिसका आस्वादन सामाजिक करता है। वास्तव में कवि नाट्य वर्णन के लिए करता है करता है और सामाजिक सहृदय रसानुभूति के लिए करता है, प्रथमत:तो सामाजिक ही करता है।आचार्य धनिक की इस सम्बन्ध में मान्यता है कि कवि साहित्य लेखन ऐतिहासिक ग्रंथों की भांति ही नहीं करता अपितु अपने अनुभव के बल पर सर्वसाधारण रूप में करता है। अतः प्रथमत: साधारणीकरण कवि करता है, तत्पश्चात् सामाजिक करता है।

वास्तव में आचार्य धनंजय एवं धनिक के तथ्यों का तार्किक विश्लेषण करने पर हमें ज्ञात होता है कि साधारणीकरण दो बार होता है। प्रथमत: सृजन के समय सृजनकर्ता या कवि को तथा दुसरी बार सामाजिक सहृदय होता द्वारा। संक्षेपतः हम यह कह सकते हैं कि आचार्य धनिक ने आचार्य भट्टनायक का अनुसरण ही किया है, उनके मत में कोई विशेष अन्तर न था।

सन्दर्भ सूची—

1. दशरूपकम् — डॉ. भोलाशंकर व्यास, पृ. 16
2. हिन्दी साहित्य कोश — 4, पृ. 1751
3. दशरूपकम् — डॉ. भोलाशंकर व्यास, पृ. 243
4. वही — पृ. 177
5. वही — पृ. 216
6. वही — पृ. 246
7. वही — पृ. 247
8. वही — पृ. 248
9. साधारणीकरण और समानान्तर चिंतन, डॉ. सुरेन्द्र शर्मा, पृ. 329

भारत एवं दक्षिण पूर्व एशिया के मध्य संबंधों के विभिन्न आयामः एक अध्ययन

आनन्द कुमार सिंह*

सारांश-

प्रस्तुत अध्ययन में भारत और दक्षिण पूर्व एशिया के मध्य संबंधों के विभिन्न आयाम यथा ऐतिहासिक संबंध, राजनीतिक संबंध, धार्मिक संबंध और साहित्यिक संबंधों पर चर्चा की गई है इसमें यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि भारत और दक्षिण पूर्व एशिया के संबंध कितने प्राचीन और कितने बहुआयामी है। इनका विस्तार प्राचीन काल से लेकर वर्तमान काल तक है।

कुंजी शब्द- हिंदू धर्म, बौद्ध धर्म, तन्त्री, भारतीय उपनिवेश, एक्ट ईस्ट पॉलिसी।

भारत और दक्षिण पूर्व एशियाई देशों के बीच संबंध सदियों पुराना और बहुआयामी रहा है जिसकी जड़े ऐतिहासिक सांस्कृतिक आर्थिक और सामरिक परस्पर क्रिया में गहराई तक जुड़ी हुई है। लगभग 2000 वर्ष पहले ही इस क्षेत्र में हिंदू संस्कृति और भारतीय व्यापारियों के प्रभाव के तहत कई राज्य स्थापित हो चुके थे। प्राचीन ग्रंथो और दस्तावेजों में मालाया, यव द्वीप, स्वर्णदीप और पूर्ण द्वीप जैसे नाम दर्ज हैं जो इस क्षेत्र और भारतीय उपमहाद्वीप के बीच प्राचीन संपर्कों का प्रमाण है।

प्रागैतिहासिक संबंध:-

भारत का दक्षिण पूर्व एशिया के साथ प्राचीन काल से सम्बन्ध रहा है। इसका विवरण प्रागैतिहासिक स्थलों पुरातात्विक स्रोतों एवं साहित्यिक स्रोतों के आधार पर प्राप्त किया जा सकता है। दक्षिण पूर्व एशिया में भारतीय उपनिवेश की स्थापना यद्यपि प्रथम शताब्दी ई० में निश्चित की जाती है, लेकिन भारतीयों का सुदूरपूर्व से व्यापारिक सम्बन्ध कई सौ वर्ष पहले ही आरम्भ हो चुका था। एक चीनी स्रोत से पता चलता है कि अनम और भारत के बीच यातायात का एक स्थल मार्ग था। इसी मार्ग से भारतीयों द्वारा जाकर ब्रह्मा, इरावदी, सालवीन, मेकांग नदी घाटियों तथा युन्नान तक, जिसका नाम उन्होंने गंधार रखा, अपने उपनिवेश स्थापित किये। ओमियो नामक हिन्द-चीन स्थल से भारतीय मुहरें एवं रोमन वस्तुएं मिली हैं। इससे संकेत मिलता है कि विदेशियों का भारत से होकर सुदूर पूर्व तक व्यापारिक सम्बन्ध था। इस व्यापार में जल के साथ-साथ स्थल मार्ग का प्रयोग होता था। भारतीय नाविक शूर्पारक, भरूकच्छ, ताम्रलिप्ति आदि बन्दरगाहों से विदेशों में व्यापार के लिए प्रायः जाया करते थे।[(1)]

राजनीतिक संबंध :-

दक्षिण पूर्व एशिया के कई क्षेत्रों में भारतीय उपनिवेश स्थापित हुये तथा कई स्थान पर हिन्दू राज्य स्थापित हुए। इनमें जावा, चम्पा, कम्बुज का उल्लेख मुख्य रूप से किया जा सकता है। फूनान राज्य की स्थापना कौण्डिन्य नामक ब्राह्मण ने की थी। इन्होंने यहां सर्वप्रथम भारतीय उपनिवेश स्थापित किया। कम्बुज राज्य में भारत की तरह राजा को दैवीय स्वरूप प्रदान किया जाता था। एक लेख में जयवर्मन को शिव के अंग से पृथ्वी पर जन्म लेने वाला कहा गया है। चम्पा का प्रथम भारतीय शासक श्रीमार था। इन्होंने लगभग द्वितीय शताब्दी ई० में अपने राजवंश को स्थापित किया। इसके शासन व कुल के विषय में जानकारी हन्त्रंग क्षेत्र से प्राप्त वो कान्ह लेख से मिलती है। जावा के शासकों के साथ भारतीय शासकों का सम्बन्ध रहा है। जावा के शैलेन्द्रवंशी शासक वालपुत्रदेव के अनुरोध पर पाल शासक देवपाल ने उसे नालन्दा में एक बौद्ध बिहार

* शोध छात्र, जननायक चंद्रशेखर विश्वविद्यालय, बलिया, उत्तर प्रदेश anandaparihar@gmail.com

बनवाने के लिए पाँच गाँव दान में दिया था। चोल शासक राजेन्द्र चोल ने दक्षिण पूर्व एशिया की ओर सैन्य अभियान किया तथा शैलेन्द्र साम्राज्य को अपने नियंत्रण में किया । शैलेन्द्र साम्राज्य का भौगोलिक विस्तार मलय प्रायद्वीप, जावा, सुमात्रा एवं अन्य समीपवर्ती द्वीपों तक था। इस सैन्य अभियान में शैलेन्द्र सम्राट विजयोतुंगवर्मन पराजित हुआ और बन्दी बना लिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि चोल सेना ने कडारम व श्रीविजय को अपने नियंत्रण में ले लिया। इस सैन्य अभियान के विषय में जानकारी तिरूवालंगाडु ताम्रपत्र में मिलता है ।साथ ही साथ राजेन्द्र चोल के 8वें वर्ष में उत्कीर्ण करन्डै ताम्रपत्र से भी जानकारी प्राप्त होती है। करन्डै ताम्रपत्र में कहा गया है कि कम्बुज के शासक ने राजेन्द्र चोल के साथ सन्धि स्थापित करने के लिए अनुरोध किया था। यह राजेन्द्र चोल के दक्षिण पूर्व एशिया पर प्रभाव को दर्शाता है। इस सैन्य अभियान का उद्देश्य चोल शासकों द्वारा दक्षिण पूर्व एशियाई देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ाना रहा होगा। जिसमें शैलेन्द्र साम्राज्य बाधा उत्पन्न कर रहा था। हालांकि के०आर० हाल जैसे विद्वान इस अभियान को चोल-चीन के बीच व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ाने में शैलेन्द्र साम्राज्य का बाधा के रूप में उत्पन्न होना बताया। जिसे जीतना राजेन्द्र चोल ने आरवयक समझा। जावा के शासन पद्धति, राजनीतिक मान्यताओं एवं सम्बन्धित संस्थाओं पर भारतीय प्रभाव दिखाई पड़ता है। इसके लिए हम वहां से प्राप्त ग्रंथों को आधार बनाते हैं। जैसे कामन्दक, इन्द्रलोक व नीतिप्रभ जैसे ग्रन्थों में राज्य के कर्तव्यों एवं शत्रुओं के प्रति राजा के दायित्व के विषय में, भारतीय ग्रन्थों के समान बातों का उल्लेख मिलता है। जावा के शासक एलंग के अभिलेख विष्णुगुप्त उपायों का उल्लेख किया गया है। इस पर स्पष्ट रूप से आचार्य चाणक्य द्वारा बतायी गई राजनीति का प्रभाव दिखाई देता है।(2)

मनु द्वारा प्रतिपादित राजा के दैवीय सिद्धान्त का प्रचलन जावा शासकों के सम्बन्ध में भी दिखाई देता है। जावा के राजा को दैवी रूप देने के लिए विष्णु, बुद्ध आदि से सम्बन्धित जो मूर्तियाँ प्रतिपादित की जाती थी ,उसमें सम्बन्धित राजा की मुखाकृति लगा दी जाती थी। जैसे राजा एलंग की मुखाकृति लेकर विष्णु की मूर्ति बनाया जाना। जावा के शासन प्रणाली पर भी भारतीय शासन पद्धति का प्रभाव दिखाई पड़ता है। जिसके विषय में जानकारी कामंदक, इन्द्रलोक एवं नीतिप्रभ जैसे ग्रन्थों में मिलती है। भारत के समान जावा में भी राज्य को प्रान्तों में बांटा जाता था जबकि शासन को सबसे छोटी इकाई ग्राम होती थी। यहां पर धर्माधिकरण नामक पदाधिकारी का सम्बन्ध कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उल्लेखित धर्मस्थ नामक पदाधिकारी के समान न्याय कार्य से सम्बन्धित था।

धार्मिक संबंध :-

जहां तक भारत एवं दक्षिण पूर्व एशिया के बीच धार्मिक सम्बन्ध का प्रश्न है, तो भारत में प्राचीन काल से विद्यमान शैव, वैष्णव एवं बौद्ध धर्मों का प्रभाव दक्षिण पूर्व एशिया में, दिखाई देता है। इण्डोनेशिया, मलेशिया, कम्बोडिया, वियतनाम और सियाम आदि में भारतीयों ने न केवल उपनिवेश स्थापित किये बल्कि वहां के निवासियों को अपने धर्म में दीक्षित कर उन्हें भारतीय संस्कृति के रंगों में रंग दिया। दक्षिण पूर्व एशियाई देशों के निवासियों ने शैव, वैष्णव जैसे धर्मों का अनुसरण किया साथ ही वहां के विद्यमान मठों, आश्रमों आदि में वैदिक पौराणिक साहित्य एवं बौद्ध साहित्य का पठन-पाठन हुआ करता था। जिस प्रकार प्राचीन काल में भारतीय धर्म में याज्ञिक कर्मकाण्ड की प्रधानता थी, उसी प्रकार दक्षिण पूर्व एशिया के भारतीय उपनिवेशों में भी यज्ञ प्रधान धर्म का प्रसार हुआ। बोर्नियों के राजा मूलवर्मा के प्राप्त यूपो (यज्ञ स्तम्भों) पर अंकित लेख में यज्ञ अनुष्ठानों एवं ब्राह्मणों के दान दक्षिणा दिये जाने का वर्णन है। हालांकि बाद के समय में यहां के द्वीपों में पौराणिक धर्म स्थान बनाने लगा जो 8वीं शताब्दी तक भलीभाँति प्रचारित हो गया था। जिसमें यज्ञ के स्थान पर मूर्तिपूजा ने प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया। मन्दिरों में देवी-देवताओं की मूर्तियां स्थापित करना धर्म का प्रमुख अंग बन गया। देवी-देवताओं में प्रमुख स्थान शिव का था। जावा में महादेव की मूर्तियों में प्रायः स्वतन्त्र रूप से एक मुख जिनमें त्रिनेत्र, चन्द्र, उपवीत के स्थान पर सर्प एवं चार हाथ है, हाथों में पुस्तक, कमल,

कमण्डल एवं त्रिशूल है। दो हाथों वाली मूर्तियों में चामर एवं अक्षमाला है। जावा में महादेव को दो रूपों शिव एवं महाकाल (रौद्र) में दिखाया जाता था। इनके पुत्र गणेश और कार्तिकेय थे। गणेश को गजमुखी बनाया जाता था तथा इनको विघ्न विनाशक देवता के रूप में पूजा जाता था।। महादेव की उपासना हेतु शिवलिंग स्थापना के भी प्रमाण मिलते है। जावा में शिव का अर्द्धनारीश्वर रूप भी विद्यमान था। विष्णु की चतुर्भुज प्रतिमा मिली है। दुर्गा महिषासुरमर्दनी के रूप में प्रचलित थी। एक मूर्ति में जावा के प्रतापी राजा एलंग को बाराहवतार के रूप में प्रदर्शित किया गया है। विष्णु के मूर्ति के साथ-साथ दो अन्य मूर्तियां मिली है जो लक्ष्मी तथा सत्यभामा प्रतीत होती है।(3)

गुणवर्मा द्वारा दक्षिण पूर्व एशिया में बौद्ध धर्म का सूत्रपात किया गया। शुरूआती चरण में जावा व उसके समीप के द्वीप में बौद्ध धर्म के हीनयान सम्प्रदाय का सर्वाधिक प्रसार हुआ। कोच्ची से आठवीं शताब्दी ई० में धर्मपाल नाम बौद्ध विद्वान गेया था। यहां पर आठवीं शताब्दी ई० तक महायान सम्प्रदाय ने प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया। शैलेन्द्र राजा बौद्ध धर्मानुयायी थे। शैलेन्द्र राजा श्री बालपुत्रदेव ने नालन्दा में एक बिहार बनाया था। आठवीं एवं नौवीं शताब्दी ई० में जावा में अनेक बौद्ध मन्दिर एवं चौत्य बने। इसमें बोरोबदूर चौत्य का प्रमुख स्थान है। चण्डीकालसन एवं चण्डीसेतू जैसी मन्दिरों का निर्माण भी इसी काल में हुआ। शैलेन्द्र राजाओं की राजधानी श्री विजय (सुमात्रा) बौद्ध धर्म का प्रमुख केन्द्र था। 11वीं शताब्दी में आचार्य दीपंकर श्री ज्ञान अतीश यहां आये थे।

मालाया, सुमात्रा, जावा आदि में तो अब भारतीय धर्म का अन्त हो गया लेकिन बाली नामक एक छोटे से द्वीप में धर्म का वही परम्परागत स्वरूप विद्यमान है, जो इस्लाम के प्रचार के पहले जावा में विद्यमान था। (बाली में सूर्य के रूप में शिव की पूजा) का प्रमुख स्थान है। साथ ही पितरों का श्राद्ध. पूजा में घृत, मधु, कुशा तथा तिलों को प्रयुक्त किया जाता है साथ ही पूजा कराने वाले पदण्ड को दक्षिणा भी दिया जाता है। बाली में आज भी संस्कृत भाषा तथा वेद, सूत्रग्रंथ, रामायण, महाभारत आदि जैसे ग्रन्थ का पठन-पाठन किया जाता है। बाली में गंगा, यमुना, सरयू, कावेरी, सिन्धु और नर्मदा नामक नदियां विद्यमान है, पर भारत की इन नाम की नदियों के समान वहां की इन नदियों का जल पवित्र नहीं माना जाता। अतः जावा में आज भी भारतीय तत्व विद्यमान है।(4)

कम्बुज में भी पौराणिक हिन्दू धर्म का प्रचार था। शिव एवं विष्णु की पूजा विशेष महत्व रखती थी। कम्बुज में शिव को मानव एवं शिवपद के रूप में प्रतिष्ठापित किया जाता था। राजा भववर्मा के एक अभिलेख में त्रैयम्बक लिंग (शिव लिंग) के प्रतिष्ठा का उल्लेख मिलता है। शिव के साथ-साथ पार्वती और दुर्गा की मूर्तियां भी कम्बुज में बनायी जाती थी। शिव की मानव रूपी मूर्तियों में उसके शीर्ष पर विराजमान गंगा-यमुना को प्रदर्शित किया जाता था। शिव के समान विष्णु की भी पूजा प्रचलित थी। राजा जयवर्मा एवं पटरानी कुलप्रभावती के पुत्र गुणवर्मा के एक अभिलेख में चक्रतीर्थ स्वामी विष्णु के वैष्णव पद की प्रतिष्ठापित किये जाने का उल्लेख है। कम्बुज में शिव-विष्णु को अभेद मानकर उसकी संयुक्त मूर्ति निर्माण एवं पूजा की प्रथा प्रचलित थी। ताम्रपुर के एक प्रधान ने शिव-विष्णु की एक मूर्ति स्थापित की। राजा ईशानवर्मा के श्त्रड्यू अभिलेख में शंकर और अच्युत की अर्धशरीर प्रतिमा बनाये जाने का उल्लेख मिलता है। कम्बुज में त्रिमूर्ति (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) की पूजा का प्रचलन था जिनमें शिव विष्णु के साथ ब्रह्मा की भी स्तुति की जाती थी।

चम्पा में पौराणिक हिन्दू धर्म के साथ-साथ बौद्ध धर्म भी प्रचलित था। चम्पा में यज्ञ अनुष्ठान का प्रचलन था। राजा प्रकाशधर्म के माइसोन अभिलेखश में अश्वमेघ यज्ञ किये जाने का उल्लेख मिलता है। चम्पा में शैव धर्म का अधिक प्रसार था। शैव मन्दिरों के प्रमुख स्थान माइसोन एवं पो नगर थे। माइसोन के मन्दिर में प्राप्त शैवः मूर्तियाँ साधारण एवं खड़ी हुई मुद्रा में दिखाया गया है। नन्दी के साथ तथा तांडव नृत्य करते हुए शिव की मूर्तियाँ प्राप्त हुई है। चम्पा के अभिलेखों में शिव की महिमा का वर्णन पुराणों में वर्णित शिव के गुणों

एवं उसके सम्बन्धित कथाओं के समान है, जैसे श्वेत भस्म शरीर पर लपेटे रहना, शिव के तीन नेत्र होना, कामदेव को भस्म करना आदि। चम्पा के अभिलेखों में स्वर्ग-नरक का भी उल्लेख मिलता है। यह भारतीय धर्म में प्रचलित स्वर्ग-नरक की धारणा के अनुरूप दिखाई देता है।। यद्यपि शिव की पूजा के लिए अधिकांशतः लिंग का उपयोग किया जाता था, लेकिन शिव को मानव रूप में मूर्ति बनाकर मन्दिर में प्रतिष्ठापित करने की परम्परा विद्यमान थी। शैव धर्म की प्रधानता होते हुए भी चम्पा में वैष्णव धर्म का भी प्रभाव रहा था। लेखों में विष्णु के उपासना की बात कही गई है। विष्णु को नारायण, हरि, गोविन्द, माधव, विक्रम और त्रिभुवनाक्रान्त नामों से भी जाना जाता था। विष्णु के वाहन गरूड़ से भी चम्पा के लोग परिचित थे। गरुड़ को पक्षी के मुख और सिंह के शरीर के रूप में दिखाया गया है जो सर्प का शिकार कर रहा है।[5]

जिस प्रकार पो एवं माइसोन नगर हिन्दू मन्दिर से सम्बन्धित थें उसी प्रकार दोंग-दुओंग नगर बौद्ध धर्म का केन्द्र था। यहाँ से बड़ी संख्या में बौद्ध मन्दिर मिला है। चीनी यात्री ईत्सिंग लिखता है कि चम्पा में बौद्ध धर्म के सम्मितीय निकाय एवं कुछ सर्वास्तिवाद निकाय का प्रचलन था। चम्पा के अभिलेखों में बुद्ध के लिए जिन, लोकेश्वर, सुगत, अभपद, शक्तिमुनि आदि नामों का उपयोग मिलता है। राजा जयइन्द्रवर्मा ने 875 ई० में लक्ष्मीन्द लोकेश्वर की मूर्ति प्रतिष्ठापित की थी और भिक्षुसंध के लिए एक बिहार का निर्माण करवाया था। मृत्यु के पश्चात इसे "परमबुद्धलोक" कहा गया है। यह सूचित करता है कि वह बौद्ध मतानुयायी था। इसी प्रकार वर्मा में भी बौद्ध धर्म के प्रचलन के साक्ष्य मिलते हैं।

साहित्यिक संबंध :-

दक्षिण पूर्व एशिया के आदिम लोग जिन भारतीय तत्वों से प्रभावित हुए उनमें एक तत्व साहित्य भी है। इस तत्व को सूवर्णद्वीप की मिट्टी में गहराई से प्रत्यारोपित किया गया। चौथी शताब्दी ई० से सातवीं शताब्दी ई० के बीच वर्मा, सियाम, मलाय प्रायद्वीप, सुमात्रा, जावा, बोर्नियों में बड़ी मात्रा में छोटे-छोटे संस्कृत के अभिलेख मिले हैं। यह सभी दिखाता है कि सातवीं शताब्दी ई० के अन्त से पूर्व यहां संस्कृत भाषा का विकास हो चुका था। चम्पा के सबसे प्राचीन माइसोन लेख में भद्रवर्मन के विषय में कहा गया है कि वह चारो वेदों का पूर्ण ज्ञाता था। जबकि 914 ई0 के पोन्नगर अभिलेख के अनुसार राजा इन्द्रवर्मा (तृतीय) मीमांसा, षटतर्क (षटदर्शन), बौद्धदर्शन, व्याकरण, आख्यान का मूर्धन्य विद्वान था। जयइन्द वर्मा (सप्तम) व्याकरण, ज्योतिष, महायानदर्शन, धर्मशास्त्र में परांगत था। चम्पा में रामायण, महाभारत, पुराण आदि का इतना अधिक प्रचलन था कि यहां के अभिलेखों में रामायण जैसे महाकाव्य के पात्रों से वहां के राजाओं की तुलना की गई है। जैसे दशरथ एवं राम का उल्लेख बार-बार दिखाई देता है। राजा प्रकाश धर्म के माइसोन अभिलेख में - दोणपुत्र अश्वत्थामा का उल्लेख मिलता है। कृष्ण का उल्लेख भी अभिलेखों में प्राप्त होता है।[6]

कम्बुज में संस्कृत की अधिक प्रगति दिखाई देती है क्योंकि प्राप्त संस्कृत के शिलालेख सुन्दर एवं दोषरहित काव्य शैली में लिखे गये हैं। यद्यपि यहाँ पर प्राचीन भारतीय साहित्य के तीनों अंगों-संस्कृत, पालि और प्राकृत को अपनाया गया, लेकिन संस्कृत को ही सर्वोच्च स्थान प्राप्त हुआ था। कम्बुज में आये ब्राह्मण मेहमानों ने संस्कृत की पवित्रता को बनाये रखा, तथा लेखन कार्य हेतु ब्राह्मी लिपि का प्रयोग किया। यद्यपि कहीं-कहीं दक्षिणी पल्लव लिपि भी मिलती है। यहां के राजाओं के लेखों में संस्कृत भाषा का प्रयोग मिलता है। यशोवर्मन के एक शिलालेख में 50 छन्द मिलते हैं। सम्राट यशोवर्मन सभी शास्त्रों में पांरगत था तथा शिल्प शास्त्र, लिपि, भाषा, नृत्य, गीत तथा विज्ञान का अच्छा ज्ञाता था। उसने महाभाष्य पर टीका भी लिखी थी। यहां के प्राप्त शिलालेखों से यह बात स्पष्ट होती है कि यहां के शिलालेखों के लेखक संस्कृत के सभी रूपों से अच्छी तरह परिचित थे जिनका प्रयोग सफलतापूर्वक शिलालेखों में किया। कम्बुज के लोग में भारतीय महाकाव्यों, पुराणों एवं साहित्य के अन्य शाखाओं के साथ-साथ भारतीय दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विचारों में भी गहरी रूचि दिखाई देती है। यहां के शिलालेखों में वेद, वेदांग, स्मृति, महाकाव्यों (रामायण-महाभारत), बौद्ध एवं जैन

सिद्धान्तों एवं अन्य ग्रन्थों का भी उल्लेख मिलता है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि कम्बुज के शिलालेख संस्कृत साहित्य के इतिहास में एक उत्कृष्ठ अध्याय जोड़ते है। जावा में संस्कृत भाषा के साथ-साथ स्थानीय भाषा का भी विकास हुआ। जावा में भारतीय साहित्य एवं शिक्षा का प्रवेश पाँचवी शताब्दी ई० तक हो चुका था। पूर्वावर्मन के लेख से पता चलता है कि उसके रचयिताओं को भाषा एवं व्याकरण का अच्छा ज्ञान था। सबसे पहले जावा की भाषा में अमरमाला नामक ग्रन्थ की रचना हुई। यह ग्रन्थ भारत में लिखे गये संस्कृत भाषा के ग्रन्थ अमरकोश की शैली में लिखा गया है। राजा धर्मवंश एवं एलंग के शासनकाल में जावी भाषा में अनेक संस्कृत के ग्रन्थों का अनुवाद हुआ। धर्मवंश के शासन काल में महाभारत का अनुवाद हुआ। राजा एलंग के समय में कृष्णायन एवं सुमनसान्तक जैसे ग्रन्थ लिखे गये। कवि त्रिगुण द्वारा रचित कृष्णायन में कृष्णा द्वारा रुक्मिणी के हरण एवं जरासन्ध से युद्ध का वर्णन है। जिस प्रकार के नीति विषयक कथन संस्कृत के ग्रन्थ चाणक्यशतक, पंचतन्त्र में मिलते हैं वैसा ही कथन मजपहित राज्य के अन्त में लिखा गया ग्रन्थ नीतिसार (नीतिशास्त्र) में भी मिलता है। बाली से कामन्दक नीतिसार नामक संस्कृत में लिखा गया राजनीति का ग्रन्थ मिलता है, अन्य ग्रन्थ इन्द्रलोक तथा नीतित्रय भी मिलता है। जिस प्रकार भारत में पंचतन्त्र एवं हितोपदेश जैसी कहानियाँ मिलती है वैसी ही कहानियाँ जावी भाषा में मिलती है ,जिन्हें तन्त्री कहते हैं। तन्त्री कहानियाँ ऐसी रानी से कहलवायी गयी है जिसका पति प्रतिदिन नई महिला से विवाह करता था। इस प्रकार जावा में एक समृद्ध प्राचीन साहित्यिक परिवेश था। आज भी वहां पर बहुत सारे भारतीय संस्कृत के तत्व दिखाई देते हैं जो परस्पर सम्बन्धों को प्रदर्शित करता है[7]

भारत एवं दक्षिण पूर्व एशिया दोनों की संस्कृतियां परस्पर मेल-जोल से समय के साथ-साथ समृद्ध होती गई। परस्पर आदान-प्रदान से समृद्ध हुई संस्कृति का दोनों उपमहाद्वीपों के सम्बन्धों में अमूल्य योगदान रहा है, जिसने न केवल प्राचीन काल में सामाजिक संरचना भाषा, धर्म, शासन व्यवस्था इत्यादि को प्रभावित किया बल्कि वर्तमान समय में भी भारत एवं दक्षिण पूर्व एशिया बीच सम्बन्धों को प्रगाढ़ बनाने में ठोस आधार प्रदान कर रहा है। भारत एवं दक्षिण-पूर्व एशिया के बीच प्राचीन काल से परस्पर चले आ रहे सम्बन्धों के तत्वों को सामने लाने से भारत के" एक्ट ईस्ट पालिसी "की सफलता हेतु मजबूती प्राप्त होगी।

संदर्भ सूची

1- कोएडेस, जॉर्ज। (1968)। दक्षिण-पूर्व एशिया के भारतीयीकृत राज्य. कुआलालंपुर मलाया विश्वविद्यालय प्रेस।

2- उलाक, रिचर्ड, पॉवर, ग्युला। (1989)। दक्षिण-पूर्व एशिया का एटलस. न्यूयॉकर्स फैक्ट्स ऑन फाइल।

3- भारत सरकार, सूचना मंत्रालय। (1953)। भारत और दक्षिण पूर्व एशिया. नई दिल्ली सूचना मंत्रालय।

4- अरोडा, बी. डी. (1981)। भारत, इंडोनेशिया सम्बन्ध (1961- 1980), नई दिल्ली एशिया एजुकेशनल सर्विसेज।

5- वैन लेउर, जे. सी. (1955)। इंडोनेशियाई व्यापार और समाज, एशियाई सामाजिक और आर्थिक इतिहास पर निबंध. हेग. डब्ल्यू .वैन .होवे।

6- अरोकियास्वामी, सी. डब्ल्यू. एम. (2000)। मलेशिया, इंडोनेशिया और फिलीपींस में तमिल प्रभाव. मनीला। पृ. 37457। 44

7- अंतरराष्ट्रीय तमिल भाषा संस्थान। (2000)। तमिल संस्कृति और विरासत का मार्गदर्शक. शिकागो अंतरराष्ट्रीय तमिल भाषा संस्थान। पृ. 877।

राज्यपाल बनाम निर्वाचित सरकार तथा सुप्रीम कोर्ट के निर्णय : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन (हालिया विवाद 2023–2025)

दीपक कुमार*

सारांश

भारतीय संवैधानिक व्यवस्था में राज्यपाल और निर्वाचित राज्य सरकारों के मध्य टकराव की स्थिति भारतीय संघात्मक शासन प्रणाली का एक विवादित पहलू हमेशा से रहा है। हालांकि विशेषज्ञों के अनुसार विवाद के पृष्ठभूमि में संवैधानिक पेचीदगियों के अलावे राजनीतिक हितों का संघर्ष ज्यादा प्रभावी रहा। हाल में विशेष रूप से पंजाब, तमिलनाडु, केरल, पश्चिम बंगाल और दिल्ली जैसे राज्यों में, जहाँ विधायी प्रक्रियाओं और प्रशासनिक नियुक्तियों को लेकर गंभीर गतिरोध देखे गए। यह विवाद मुख्यतः अनुच्छेद 200 और 201 के तहत राज्यपाल की शक्तियों, विशेषकर विधेयकों पर सहमति देने या उन्हें रोकने की उनकी विवेकाधीन शक्तियों से संबंधित रही है।इस संदर्भ में सुप्रीम कोर्ट के हालिया निर्णयों, विशेष रूप से तमिलनाडु बनाम राज्यपाल (2025) और पंजाब बनाम राज्यपाल (2023) के परिप्रेक्ष्य में, यह स्पष्ट किया गया कि राज्यपाल एक निर्वाचित विधायिका की इच्छा को अनिश्चित काल तक बाधित नहीं कर सकते । यहां 2025 के प्रेसिडेंशियल रेफरेंस (Presidential Reference) के ऐतिहासिक निर्णय का भी विश्लेषण किया जाना प्रासंगिक है, जिसमें 'डीम्ड एसेंट' के सिद्धांत को खारिज करते हुए शक्तियों के पृथक्करण और संवैधानिक संदर्भ को पुनर्स्थापित किया गया। इन सब पहलुओं के विश्लेषण में सहकारी संघवाद की मजबूती के लिए सरकारिया और पुंछी आयोगों की सिफारिशों के क्रियान्वयन का पक्ष भी उल्लेखनीय है ।

प्रमुख शब्दावली : अनुच्छेद 200, विवेकाधीन शक्तियां, संघवाद,डीम्ड एसेंट, शक्तियों का पृथक्करण, पॉकेट वीटो, संवैधानिक नैतिकता, सरकारिया आयोग,पुंछी आयोग, न्यायिक समीक्षा।

प्रस्तावना

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 153 के तहत प्रत्येक राज्य के लिए एक राज्यपाल का प्रावधान किया गया है, जिसकी भूमिका दोहरी होती है: वह राज्य का संवैधानिक प्रमुख होने के साथ-साथ केंद्र सरकार के प्रतिनिधि के रूप में भी कार्य करता है । संविधान निर्माताओं ने इस पद की कल्पना एक निष्पक्ष मध्यस्थ और मार्गदर्शक के रूप में की थी, जो राज्य प्रशासन की स्थिरता और संवैधानिक मर्यादा सुनिश्चित करेगा। हालांकि, समकालीन राजनीतिक परिदृश्य में राज्यपाल का कार्यालय अक्सर सक्रिय राजनीतिक विवादों का कारण बन जाता है, जिससे 'सहकारी संघवाद' की अवधारणा खंडित होने लगती है । पिछले कुछ वर्षों में, निर्वाचित सरकारों और राजभवन के बीच टकराव केवल प्रशासनिक मुद्दों तक सीमित नहीं रहा, बल्कि यह विधायी संप्रभुता के मूल सिद्धांतों तक पहुँच गया है।

विवाद का मुख्य बिंदु अनुच्छेद 200 है, जो राज्यपाल को राज्य विधानसभा द्वारा पारित विधेयकों पर सहमति देने, उसे रोकने या राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित करने की शक्ति प्रदान करता है । पंजाब और तमिलनाडु जैसे राज्यों में राज्यपालों द्वारा विधेयकों को महीनों और वर्षों तक लंबित रखने की प्रवृत्ति ने "पॉकेट वीटो" की स्थिति पैदा कर दी है, जिसे सुप्रीम कोर्ट ने लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रतिकूल माना है । इसके अतिरिक्त, दिल्ली में उप-राज्यपाल और निर्वाचित सरकार के बीच प्रशासनिक सेवाओं के नियंत्रण को लेकर चले कानूनी संघर्ष ने 'जवाबदेही की ट्रिपल श्रृंखला' जैसे महत्वपूर्ण न्यायिक सिद्धांतों को जन्म दिया है । यह आलेख

* UGC नेट (राजनीतिक विज्ञान), पी.एच.डी शोधार्थी, बी.आर.ए.बी.यू., मुजफ्फरपुर (बिहार)

इन सभी विवादों का विश्लेषण करते हुए यह समझने का प्रयास करती है कि संवैधानिक संस्थाओं के बीच संतुलन कैसे बनाए रखा जा सकता है, ताकि जनादेश का सम्मान और संविधान की सर्वोच्चता दोनों अक्षुण्ण रहें।

राज्यपाल की संवैधानिक स्थिति और शक्तियों का ऐतिहासिक परिपेक्ष्य

राज्यपाल के पद की ऐतिहासिक जड़ें भारत शासन अधिनियम, 1935 में निहित हैं, जहाँ राज्यपाल को व्यापक विवेकाधीन शक्तियाँ प्राप्त थीं । स्वतंत्र भारत के संविधान निर्माताओं ने यद्यपि राज्यपाल को एक "अलंकारिक प्रमुख" के रूप में परिकल्पित किया, लेकिन अनुच्छेद 163 और अनुच्छेद 200 जैसे प्रावधानों ने उन्हें कुछ ऐसी शक्तियाँ दीं जो अक्सर व्याख्या का विषय बन जाती हैं । संविधान सभा के वाद-विवादों में डॉ. बी.आर. अंबेडकर ने स्पष्ट रूप से कहा था कि राज्यपाल के पास ऐसी कोई स्वतंत्र शक्तियाँ नहीं हैं जिन्हें वे स्वयं के विवेक से संचालित कर सकें, सिवाय उन स्थितियों के जो स्पष्ट रूप से संविधान में उल्लेखित हैं । संविधान के अनुच्छेद 163(1) के अनुसार, राज्यपाल को अपनी शक्तियों का प्रयोग मंत्रिपरिषद की सहायता और सलाह पर करना चाहिए, सिवाय उन मामलों के जहाँ उन्हें विवेकाधीन रूप से कार्य करना अनिवार्य हो । हालिया विवादों ने इसी "विवेकाधीन" शब्द की परिभाषा को चुनौती दी है। जब राज्यपाल किसी विधेयक को अनिश्चित काल तक लंबित रखते हैं, तो वे वास्तव में मंत्रिपरिषद की सलाह को दरकिनार कर रहे होते हैं । सुप्रीम कोर्ट ने *शमशेर सिंह बनाम पंजाब राज्य (1974)* में स्पष्ट किया था कि राष्ट्रपति और राज्यपाल अपनी औपचारिक संवैधानिक शक्तियों का प्रयोग केवल अपने मंत्रियों की सलाह के अनुसार ही करेंगे ।

अनुच्छेद 200: विधायी प्रक्रिया का गतिरोध

अनुच्छेद 200 राज्यपाल को चार विकल्प प्रदान करता है जब कोई विधेयक विधानसभा से पारित होकर उनके पास आता है। वह सहमति दे सकता है, उसे रोक सकता है, पुनर्विचार के लिए लौटा सकता है (यदि वह धन विधेयक नहीं है), या राष्ट्रपति के लिए आरक्षित कर सकता है । इस अनुच्छेद के पहले प्रावधान में कहा गया है कि राज्यपाल को "जितनी जल्दी हो सके" विधेयक लौटाना चाहिए । हालिया विवादों में इसी वाक्यांश की व्याख्या सबसे महत्वपूर्ण रही है।

विकल्प	**संवैधानिक विवरण**	**न्यायिक व्याख्या एवं प्रभाव**
सहमति देना	विधेयक कानून बन जाता है।	लोकतांत्रिक प्रक्रिया का सुचारु संचालन सुनिश्चित करता है।
सहमति रोकना	विधेयक को संदेश के साथ लौटाना अनिवार्य है।	इसे 'पूर्ण वीटो' के रूप में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता ।
पुनर्विचार हेतु लौटाना	सदन दोबारा पारित करे तो सहमति देना अनिवार्य है।	सदन की विधायी संप्रभुता को सर्वोच्च मानता है ।
राष्ट्रपति हेतु आरक्षण	अनुच्छेद 201 के तहत प्रक्रिया आगे बढ़ती है।	केवल गंभीर संवैधानिक प्रश्नों या राष्ट्रीय हितों के लिए सुरक्षित ।

पंजाब और तमिलनाडु: न्यायिक हस्तक्षेप के प्रमुख मामले

वर्ष 2023 से 2025 के बीच पंजाब और तमिलनाडु के राज्यपालों के आचरण ने सुप्रीम कोर्ट को कड़े रुख अपनाने पर मजबूर किया। पंजाब मामले (*पंजाब राज्य बनाम राज्यपाल के प्रधान सचिव, 2023*) में, राज्यपाल ने विधानसभा सत्र की वैधता को चुनौती देते हुए कई विधेयकों को लंबित रखा था । सुप्रीम कोर्ट ने स्पष्ट किया कि राज्यपाल, निर्वाचित विधायिका के कार्यों को अपनी निष्क्रियता से व्यर्थ नहीं कर सकते।

न्यायालय ने रेखांकित किया कि "सहमति रोकना" और "विधेयक वापस करना" एक-दूसरे से जुड़े हुए कार्य हैं; राज्यपाल केवल यह कहकर विधेयक को अपनी मेज पर नहीं रख सकते कि उन्होंने सहमति रोक दी है ।

तमिलनाडु मामले (*तमिलनाडु राज्य बनाम तमिलनाडु के राज्यपाल, 2025*) में विवाद और भी गहरा था। राज्यपाल आर.एन. रवि ने 12 विधेयकों पर वर्षों तक कोई कार्रवाई नहीं की, और जब राज्य सरकार ने सुप्रीम कोर्ट का रुख किया, तो उन्होंने 10 विधेयकों को वापस कर दिया । इसके बाद, जब विधानसभा ने एक विशेष सत्र में उन विधेयकों को पुनः पारित किया, तो राज्यपाल ने उन्हें राष्ट्रपति के पास भेज दिया । सुप्रीम कोर्ट ने इसे "असंवैधानिक" करार दिया और कहा कि एक बार जब राज्यपाल ने सहमति रोक दी और सदन ने विधेयक दोबारा पारित कर दिया, तो उनके पास सहमति देने के अलावा कोई विकल्प नहीं बचता ।

अनुच्छेद 142 और 'डीम्ड एसेंट' का विवाद

अप्रैल 2025 के फैसले में, जस्टिस जे.बी. पारदीवाला और जस्टिस आर. महादेवन की बेंच ने तमिलनाडु के 10 लंबित विधेयकों को "डीम्ड एसेंट" (मान ली गई सहमति) प्रदान करने के लिए अनुच्छेद 142 का उपयोग किया । न्यायालय ने महसूस किया कि राज्यपाल का आचरण "बौनाफाइड" (नेक नियति) की कमी को दर्शाता है और विधायी प्रक्रिया को लकवाग्रस्त होने से बचाने के लिए यह आदेश आवश्यक है । हालांकि, इस आदेश ने शक्तियों के पृथक्करण पर एक नई बहस छेड़ दी, क्योंकि संविधान के अनुसार कोई भी विधेयक राज्यपाल या राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के बिना कानून नहीं बन सकता ।

2025 का प्रेजेंडेंशियल रेफरेंस: संवैधानिक संतुलन की पुनर्स्थापना

तमिलनाडु मामले के फैसले के बाद उत्पन्न कानूनी अस्पष्टता को दूर करने के लिए राष्ट्रपति द्रौपदी मुर्मू ने अनुच्छेद 143(1) के तहत सुप्रीम कोर्ट की राय मांगी। नवंबर 2025 में मुख्य न्यायाधीश बी.आर. गवई की अध्यक्षता वाली पांच-न्यायाधीशों की संवैधानिक बेंच ने इस पर अपनी विस्तृत राय दी, जिसने राज्यपाल और राष्ट्रपति की शक्तियों को लेकर कई महत्वपूर्ण बिंदुओं को स्पष्ट किया ।

'डीम्ड एसेंट' और समय सीमा पर रुख

संवैधानिक बेंच ने "डीम्ड एसेंट" के विचार को पूरी तरह से खारिज कर दिया। न्यायालय ने तर्क दिया कि संविधान निर्माताओं ने जानबूझकर राज्यपाल या राष्ट्रपति के लिए कोई निश्चित समय सीमा तय नहीं की थी, क्योंकि कुछ विधेयकों में जटिल कानूनी और राष्ट्रीय हित के प्रश्न हो सकते हैं जिनके लिए अधिक समय की आवश्यकता हो सकती है। न्यायपालिका कार्यकारी या विधायी कार्यों को अपने हाथ में नहीं ले सकती। 'डीम्ड एसेंट' घोषित करना वास्तव में राज्यपाल की संवैधानिक भूमिका को प्रतिस्थापित करना है, जो संविधान के मूल ढांचे के विरुद्ध है ।यद्यपि न्यायालय समय सीमा तय नहीं कर सकता, लेकिन वह "अस्पष्टीकृत और अनिश्चित काल" की देरी के मामले में हस्तक्षेप कर सकता है। ऐसी स्थितियों में, कोर्ट राज्यपाल को एक "उचित समय" के भीतर निर्णय लेने का निर्देश दे सकता है ।

राज्यपाल का स्वतंत्र विवेकाधीन शक्ति

बेंच ने यह भी स्पष्ट किया कि अनुच्छेद 200 के तहत कार्य करते समय राज्यपाल मंत्रिपरिषद की सहायता और सलाह से बंधे नहीं हैं। यह उनके स्वतंत्र संवैधानिक विवेक का हिस्सा है कि वे सहमति दें, रोकें या राष्ट्रपति के पास भेजें । न्यायालय ने *नबाम रेबिया (2016)* के फैसले का हवाला देते हुए कहा कि राज्यपाल की विवेकाधीन शक्तियां व्यापक हो सकती हैं जब वे संवैधानिक रक्षक के रूप में कार्य करते हैं ।

दिल्ली विवाद: निर्वाचित सरकार और उप-राज्यपाल का संघर्ष

राज्यपाल बनाम सरकार के टकराव का एक अलग और महत्वपूर्ण रूप दिल्ली के राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र (NCTD) में देखने को मिलता है। यहाँ विवाद का केंद्र अनुच्छेद 239AA है, जो दिल्ली को एक विधानसभा प्रदान करता है लेकिन 'पुलिस', 'लोक व्यवस्था' और 'भूमि' जैसे विषयों को केंद्र के नियंत्रण में रखता है ।

सेवाओं पर नियंत्रण और जवाबदेही

मई 2023 में सुप्रीम कोर्ट ने दिल्ली सरकार के पक्ष में एक ऐतिहासिक निर्णय दिया, जिसमें कहा गया कि प्रशासनिक सेवाओं (IAS अधिकारियों की पोस्टिंग और स्थानांतरण) पर नियंत्रण निर्वाचित सरकार का होना चाहिए । न्यायालय ने "जवाबदेही की ट्रिपल श्रृंखला" का सिद्धांत प्रतिपादित किया:

- सिविल सेवक मंत्रियों के प्रति जवाबदेह हैं।
- मंत्री विधायिका के प्रति जवाबदेह हैं।
- विधायिका मतदाताओं के प्रति जवाबदेह है ।

अदालत का मानना था कि यदि निर्वाचित सरकार का अपने अधिकारियों पर नियंत्रण नहीं होगा, तो वह जनता के प्रति अपनी जिम्मेदारियों को पूरा नहीं कर पाएगी । हालांकि, इस फैसले के तुरंत बाद केंद्र सरकार ने एक अध्यादेश जारी किया, जिसे बाद में कानून (GNCTD Amendment Act, 2023) में बदल दिया गया, जिसने सेवाओं का नियंत्रण वापस केंद्र द्वारा नियुक्त अधिकारियों और उप-राज्यपाल को दे दिया । यह मामला वर्तमान में पुनः न्यायिक जांच के अधीन है, जो संघवाद और केंद्र शासित प्रदेशों की स्वायत्तता के बीच एक निरंतर चलने वाले संघर्ष को दर्शाता है।

विश्वविद्यालयों के कुलपति और चांसलर का पद

हाल के वर्षों में एक नया विवाद राज्यपाल की "चांसलर" (कुलाधिपति) के रूप में भूमिका को लेकर उभरा है। पश्चिम बंगाल, केरल और तमिलनाडु जैसे राज्यों में राज्यपालों ने अपनी इस वैधानिक शक्ति का उपयोग निर्वाचित सरकारों के साथ टकराव के लिए किया है ।

पश्चिम बंगाल और केरल का गतिरोध

पश्चिम बंगाल में ममता बनर्जी सरकार ने विश्वविद्यालय कानूनों में संशोधन के लिए विधेयक पारित किए ताकि राज्यपाल के स्थान पर मुख्यमंत्री को चांसलर बनाया जा सके । राज्यपाल सी.वी. आनंद बोस ने इन विधेयकों को राष्ट्रपति के लिए आरक्षित कर दिया, जिन्हें अंततः राष्ट्रपति द्वारा खारिज कर दिया गया । केरल में भी राज्यपाल आरिफ मोहम्मद खान और एलडीएफ सरकार के बीच कुलपतियों की नियुक्ति को लेकर गहरा विवाद रहा है ।

सुप्रीम कोर्ट ने इन मामलों में मध्यस्थ की भूमिका निभाते हुए 'सर्च-कम-सिलेक्शन' समितियों का गठन किया ताकि नियुक्तियों को राजनीतिक प्रभाव से मुक्त रखा जा सके । न्यायालय ने जोर दिया कि विश्वविद्यालय अकादमिक स्वायत्तता के केंद्र होने चाहिए और वहाँ की नियुक्तियाँ केवल योग्यता और यूजीसी नियमों के आधार पर होनी चाहिए ।

सुधार की दिशा में आयोगों की भूमिका

राज्यपाल के पद के राजनीतिकरण को रोकने के लिए कई उच्च स्तरीय आयोगों ने महत्वपूर्ण सिफारिशें की हैं, जिन्हें लागू कर ऐसे गतिरोध को दूर किया जा सकता है-

सरकारिया आयोग (1988)

न्यायमूर्ति आर.एस. सरकारिया की अध्यक्षता वाले आयोग ने केंद्र-राज्य संबंधों को सुधारने के लिए कुछ सुझाव दिए थे,उदाहरण स्वरूप राज्यपाल राज्य के बाहर का एक प्रतिष्ठित व्यक्ति होना चाहिए, जो हाल के वर्षों में सक्रिय राजनीति में न रहा हो । नियुक्ति से पहले संबंधित राज्य के मुख्यमंत्री से अनिवार्य रूप से परामर्श किया जाना चाहिए । राज्यपाल को अपना 5 साल का कार्यकाल पूरा करने दिया जाना चाहिए, और उन्हें केवल असाधारण परिस्थितियों में ही हटाया जाना चाहिए अनुच्छेद 356 (राष्ट्रपति शासन) का प्रयोग केवल अंतिम विकल्प के रूप में होना चाहिए ।

एम.एम. पुंछी आयोग (2010)

पुंछी आयोग ने सरकारिया आयोग की सिफारिशों को और आगे बढ़ाते हुए कुछ कड़े सुझाव दिए-

- **महाभियोग प्रक्रिया:** राज्यपाल को हटाने की शक्ति केवल राष्ट्रपति के पास नहीं होनी चाहिए, बल्कि राज्य विधानमंडल को महाभियोग के माध्यम से उन्हें हटाने का अधिकार मिलना चाहिए ।
- **चांसलर पद का अंत:** राज्यपालों को विश्वविद्यालयों के चांसलर बनाने की परंपरा को समाप्त कर देना चाहिए ताकि वे राजनीतिक विवादों में न फंसें ।
- **समय सीमा:** विधेयकों पर निर्णय लेने के लिए राज्यपाल के लिए 6 महीने की अधिकतम समय सीमा तय की जानी चाहिए ।

संघवाद और संवैधानिक नैतिकता: एक गहन विश्लेषण

राज्यपाल और निर्वाचित सरकारों के बीच टकराव केवल प्रशासनिक या विधायी नहीं है; यह 'संवैधानिक नैतिकता' का संकट है। जब राज्यपाल निर्वाचित सरकार के कामकाज में बाधा डालते हैं, तो वे वास्तव में मतदाताओं के जनादेश का अनादर कर रहे होते हैं । सुप्रीम कोर्ट ने बार-बार दोहराया है कि भारत एक "लोकतांत्रिक गणतंत्र" है और लोकतंत्र में अंतिम शक्ति जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों के पास होती है।

संवैधानिक रक्षक बनाम केंद्र सरकार के राजनीतिक प्रतिनिधि

ऐसा हमेशा देखा गया है कि राजनीतिक संस्कृति में राज्यपालों के चयन में अक्सर केंद्र के सत्तासीन पार्टी अपने राजनीतिक भरोसेमंद व्यक्ति को ही प्राथमिकता देती है।जिससे वे राजभवन में पहुँचने के बाद भी अपनी पूर्व राजनीतिक पार्टी के एजेंडे को आगे बढ़ाते हुए प्रतीत होते हैं । पश्चिम बंगाल और तमिलनाडु के राज्यपालों द्वारा दिए गए सार्वजनिक बयान और ट्विटर (एक्स) पर सरकार की आलोचना इस पद की गरिमा को धूमिल करती है।

न्यायालय ने 2025 के प्रेसिडेंशियल रेफरेंस में "संवादात्मक संघवाद" की बात की है। इसका अर्थ है कि राज्यपाल और सरकार के बीच यदि मतभेद हैं, तो उन्हें टकराव के बजाय चर्चा और विमर्श के माध्यम से विवाद सुलझाया जाना चाहिए । अनुच्छेद 200 के तहत संदेश भेजने की शक्ति इसी संवाद को बढ़ावा देने के लिए है, न कि विधायी प्रक्रिया को रोकने के लिए ।

निष्कर्ष: भविष्य की चुनौतियाँ और समाधान

राज्यपाल बनाम निर्वाचित सरकार का विवाद भारतीय लोकतंत्र के परिपक्व होने की प्रक्रिया का एक हिस्सा है। सुप्रीम कोर्ट के 2023 और 2025 के निर्णयों ने इस पद की सीमाओं को काफी हद तक स्पष्ट कर दिया है। यद्यपि 2025 के संवैधानिक बेंच के फैसले ने 'डीम्ड एसेंट' और 'न्यायिक समय सीमा' जैसे कड़े प्रावधानों को हटाकर राजभवन को कुछ राहत दी है, लेकिन उसने यह चेतावनी भी दी है कि "अस्पष्टीकृत निष्क्रियता" न्यायोचित नहीं है। भविष्य के लिए निम्नलिखित सुधारों पर विचार करना अनिवार्य है:

- **नियुक्ति प्रक्रिया का लोकतंत्रीकरण:** जैसा कि पुंछी आयोग ने सुझाया था, राज्यपालों की नियुक्ति एक ऐसी समिति द्वारा की जानी चाहिए जिसमें विपक्ष के नेता और संबंधित मुख्यमंत्री की प्रभावी भूमिका हो ।
- **अनुच्छेद 200 का संशोधन:** "जितनी जल्दी हो सके" जैसे अस्पष्ट शब्दों के स्थान पर एक स्पष्ट समय सीमा (जैसे 6 माह) को संवैधानिक रूप से शामिल किया जाना चाहिए ।
- **विवेक की स्पष्ट परिभाषा:** राज्यपाल के विवेकाधीन अधिकारों को संहिताबद्ध किया जाना चाहिए ताकि वे अपनी व्यक्तिगत पसंद या राजनीतिक हितों को संवैधानिक विवेक के रूप में प्रस्तुत न कर सकें ।

- **संस्थागत जवाबदेही:** राज्यपालों को केवल राष्ट्रपति (केंद्र) के प्रति नहीं, बल्कि राज्य के प्रति भी जवाबदेह बनाने के लिए पुंछी आयोग की महाभियोग वाली सिफारिश पर गंभीरता से विचार होना चाहिए।

भारत का संघीय ढांचा तभी मजबूत हो सकता है जब केंद्र और राज्य एक-दूसरे के पूरक के रूप में कार्य करें। राज्यपाल का पद इस सहयोग की धुरी होना चाहिए, न कि टकराव का कारण। सुप्रीम कोर्ट ने अपनी भूमिका बखूबी निभाई है, लेकिन अब समय है कि राजनीतिक वर्ग संवैधानिक नैतिकता और राजधर्म का पालन करते हुए राज्यपाल रूपी इस संवैधानिक संस्था की गरिमा को संरक्षित व प्रतिष्ठित करे।

संदर्भ सूची

- *सरकारी आयोग रिपोर्ट (1988):* केंद्र-राज्य संबंधों पर महत्वपूर्ण सिफारिशें।
- *पुंछी आयोग रिपोर्ट (2007-2010):* राज्यपाल की नियुक्ति और हटाने की प्रक्रिया पर सुझाव।
- *भारत का संविधान:* अनुच्छेद 163, 174, 200, 201 और 239AA।
- *शमशेर सिंह बनाम पंजाब राज्य (1974)*, सुप्रीम कोर्ट।
- *एस.आर. बोम्मई बनाम भारत संघ (1994)*, सुप्रीम कोर्ट।
- *नबाम रेबिया बनाम उपाध्यक्ष (2016)*, सुप्रीम कोर्ट।
- *पंजाब राज्य बनाम राज्यपाल के प्रधान सचिव (2023)*, सुप्रीम कोर्ट।
- *तमिलनाडु राज्य बनाम तमिलनाडु के राज्यपाल (2025)*, सुप्रीम कोर्ट।
- *द हिंदू (The Hindu):* "संवैधानिक गतिरोध और राज्यपाल की भूमिका" 9 अप्रैल 2025।
- *इंडियन एक्सप्रेस (Indian Express):* "राजभवन और निर्वाचित सरकार: मर्यादा की रेखा", 21 नवंबर 2025।
- *हिंदुस्तान टाइम्स* "दिल्ली और संघवाद का नया चेहरा", 12 मई 2023।
- *द ट्रिब्यून:* "पंजाब में विधायी संकट और न्यायिक समाधान", 24 नवंबर 2023।

एक कहानी यह भी का शिल्प विधान

बैजू कुमार राम*
डॉ. रामदुलार साहनी**

शोध-सार :

एक कहानी यह भी यह आत्मपरक शैली में लिखी गई कृति है । जिसमें उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन के साथ-साथ निजी जीवन को उकेरा है। उनकी कृति में काल्पनिकता और कृत्रिमता का कोई स्थान नहीं है। इसमें आपने जीवन से जुड़े व्यक्ति और घटनाओं को यथार्थ रूप से उल्लेख किया है। जिससे इस कृति की विश्वसनीयता अधिक बढ़ जाती है। इसकी शिल्प विधान अत्यंत प्रभावशाली है। जिसमें भाषा की विविधता नजर आती है। एक कहानी यह भी का शिल्प इसके विषय-वस्तु के अनुरूप अत्यंत प्रभावशाली और सजीव है। यह आत्मकथा पाठकों को एक साहित्यकार के जीवन, उसके संघर्षों, संवेदनाओं तथा अनुभवों से निकटता से परिचित कराती है।

बीज शब्द : कल्पना, विविधता, आत्मकथा, प्रामाणिकता, प्रतीकों, बिंबों और आत्मकथात्मक शैली।

"मन्नू भंडारी का जन्म 3 अप्रैल 1931 में मध्यप्रदेश के भानपुरा नामक गाँव में एक संयुक्त मारवाडी परिवार में हुआ था। मन्नू भण्डारी अपने पिता के सभी संतानों में सबसे छोटी थी। उनका नाम मेहन्द्र कुमारी या घर परिवार के लोग उन्हें लाड से 'मन्नू ' कहकर पुकारते थे । यही नाम उन्होंने आजीवन अपनाया। मन्नू भंडारी ने अपनी सृजन प्रतिभा के बूते आधुनिक हिंदी कथाकारों के मध्य एक विशिष्ट पहचान बनायीं है। उनकी रचनाओं में नारियों अपने-अपने तरीके से संघर्ष करती दिखाई पड़ती हैं।"[1]

मन्नू भण्डारी की आत्मकथा की शिल्प-विधान बहुआयामी दिखाई पड़ती है। मन्नू भण्डारी के शब्दों में:- "अपनी कहानी लिखते समय सबसे पहले तो मुझे अपनी कल्पना के पर ही कतर कर एक ओर सरका देने पड़े, क्योंकि यहाँ तो निमित भी मैं ही थी और लक्ष्य भी मैं ही। यहाँ न किसी के साथ तादात्म्य स्थापित करने की अपेक्षा थी, न संभावना"।[2] प्रस्तुत आत्मकथ्य अथवा लेखकीय आत्मकथा मन्नू भंडारी की कृति एक कहानी यह भी में लेखिका ने अपने साहित्यिक जीवन के साथ-साथ निजी जीवन के विविध अनुभवों का भी अत्यंत संवेदनशील ढंग से चित्रण किया है। इस रचना में उन्होंने सभ्य, सुसंस्कृत तथा प्रभावपूर्ण साहित्यिक भाषा का प्रयोग किया है। स्वयं लेखिका ने इसे अपनी "लेखकीय आत्मकथा" के रूप में स्वीकार किया है। इस कृति की भाषा सहज, सरल, प्रवाहमयी तथा व्यावहारिक है, जिसमें कहीं भी कृत्रिमता या बनावट का आभास नहीं होता। सामान्यतः आत्मकथा, जीवनी, संस्मरण और डायरी जैसी गद्य-विधाओं के पात्र वास्तविक जीवन से जुड़े होते हैं। इसी परंपरा का निर्वाह करते हुए मन्नू भंडारी ने इस आत्मकथा में अपने जीवन से जुड़े व्यक्तियों और घटनाओं का यथार्थ एवं ईमानदार चित्रण किया है। इसमें कल्पना का अनावश्यक समावेश नहीं किया गया है। अनेक साक्षात्कारों में भी उन्होंने स्पष्ट किया है कि एक कहानी यह भी केवल आत्मकथा नहीं, बल्कि एक लेखकीय आत्मकथा है। इसी कारण उन्होंने कल्पना की अपेक्षा सत्य और अनुभव को अधिक महत्व दिया, जिससे यह कृति प्रामाणिकता और विश्वसनीयता के साथ पाठकों के सामने उपस्थित हो सकी।

एक कहानी यह भी का शिल्प इसके विषय-वस्तु के अनुरूप अत्यंत प्रभावशाली और सजीव है। यह आत्मकथा पाठकों को एक साहित्यकार के जीवन, उसके संघर्षों, संवेदनाओं तथा अनुभवों से निकटता से परिचित कराती है। जीवन की गतिशीलता, बदलती परिस्थितियों तथा विभिन्न पात्रों के माध्यम से कथा को स्वाभाविक रूप

* (यूजीसी नेट) शोधार्थी, बाबासाहेब भीमराव अंबेदकर बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर
** शोध–निर्देशक, सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग, महिला महंत दास महाविद्यालय, मुजफ्फरपुर

से आगे बढ़ाया गया है। इसमें पूर्णतः आत्मकथात्मक शैली का प्रयोग हुआ है, जिसके कारण घटनाएँ और अनुभव अत्यंत वास्तविक एवं विश्वसनीय प्रतीत होते हैं।

यह कृति भाषा की विविधता से परिपूर्ण है। मन्नू भंडारी ने प्रतीकों, बिंबों, मुहावरों और लोकोक्तियों का अत्यंत प्रभावी एवं कलात्मक प्रयोग किया है, जिससे आत्मकथा की भाषा अधिक रोचक, सजीव और भावपूर्ण बन गई है। इन भाषिक तत्वों के कारण पाठक केवल घटनाओं को पढ़ता ही नहीं, बल्कि उन्हें अनुभव भी करता है।

लेखिका ने इस आत्मकथात्मक कृति को बहुआयामी स्वरूप प्रदान किया है। इसमें व्यक्तिगत जीवन, साहित्यिक संघर्ष, सामाजिक परिवेश तथा मानवीय संबंधों का गहन चित्रण मिलता है। शिल्पगत दृष्टि से यह एक सफल और प्रभावशाली आत्मकथा है, जिसमें भाषा का प्रयोग अत्यंत परिष्कृत, मर्यादित तथा साहित्यिक है।

इस कृति की भाषा प्रयोगधर्मी होने के साथ-साथ संवेदनात्मक भी है, जो जीवन के अनेक उतार-चढ़ावों को प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त करती है। आत्मकथात्मक शैली में लिखी गई यह रचना मन्नू भंडारी की लेखन-कौशल का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसकी परिनिष्ठित एवं सुसंस्कृत भाषा पाठकों का सीधा परिचय लेखिका के व्यक्तित्व, संवेदनाओं और विचार-जगत से कराती है।

कथा-संयोजन की दृष्टि से एक कहानी यह भी एक अत्यंत सशक्त और कलात्मक आत्मकथात्मक कृति है। मन्नू भंडारी ने इसमें कथा के विकास और समापन दोनों को स्वाभाविकता तथा कलात्मकता के साथ प्रस्तुत किया है। यह आत्मकथा पारंपरिक अर्थों में क्रमबद्ध जीवन-वृत्त रहीं है, बल्कि लेखिका के साहित्यिक जीवन से जुड़े व्यक्तियों, अनुभवों और घटनाओं का संवेदनात्मक एवं यथार्थपरक चित्रण है।

लेखिका ने अपने आत्मकथ्य में उन प्रसंगों को विशेष रूप से स्थान दिया है, जिन्होंने उनके लेखकीय व्यक्तित्व और साहित्यिक चेतना को आकार दिया। पूरी आत्मकथा में कथा-प्रवाह निरंतर बना रहता है, जिसके कारण पाठक आरंभ से अंत तक उससे जुड़ा रहता है। इसकी कथाशैली पर 'नई कहानी' आंदोलन की स्पष्ट छाप दिखाई देती है, जहाँ जीवन के जटिल यथार्थ और विशेषतः नारी-अस्तित्व के संघर्षों को सांकेतिक एवं संवेदनात्मक रूप में अभिव्यक्त किया गया है।

इस कृति में जन्म से लेकर साहित्यिक जीवन तक की यात्रा को क्रमबद्ध और प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया गया है। आत्मकथा की घटनाएँ पाठकों के सामने चित्रवत् उपस्थित होती हैं और मन पर स्थायी प्रभाव छोड़ती हैं। छोटी-बड़ी सभी घटनाएँ एक-दूसरे से जुड़ी हुई प्रतीत होती हैं तथा कथानक के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

मन्नू भंडारी ने अपने जीवन के विविध पक्षों के साथ-साथ अनेक स्थानों, देश-विदेश के अनुभवों और साहित्यिक परिवेश का भी सजगता से उल्लेख किया है, जिससे कथानक और अधिक सशक्त एवं व्यापक बन गया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने समकालीन साहित्यकारों के साहित्यिक जीवन की भी संक्षिप्त किंतु महत्त्वपूर्ण झलक प्रस्तुत की है, जो इस आत्मकथा को साहित्यिक दस्तावेज का स्वरूप प्रदान करती है।

यह आत्मकथा पूरी तरह प्रामाणिक अनुभूतियों पर आधारित है। लेखिका ने अपने अनुभवों और संवेदनाओं को बिना किसी कृत्रिमता के ईमानदारीपूर्वक अभिव्यक्त किया है। यही कारण है कि एक कहानी यह भी केवल एक आत्मकथा नहीं, बल्कि हिंदी साहित्य और नारी जीवन के संघर्षों का एक महत्वपूर्ण साक्ष्य बनकर सामने आती है।

मन्नू भंडारी कहती हैं :- "आजतक मैं दूसरों की जिंदगी पर आधारित कहानियाँ ही 'रचती' आई थी, पर इस बार मैंने अपनी कहानी लिखने की जुर्रत की है। है तो यह जुर्रत ही क्योंकि हर कथाकार अपनी रचनाओं में भी दूसरों के बहाने से कहीं न कहीं अपनी जिंदगी के, अपने अनुभव के टुकड़े ही तो बिखेरता रहता हैं। कहीं उसके वित्तार और विश्वास गुँथे हुए हैं तो कहीं उसके उल्लास और अवसाद के क्षण कहीं उसके सपने और उसकी आकांक्षाएँ अंकित हैं तो कहीं धिक्कार और प्रताड़ना के उद्गार। "[3]

भाषा : आत्मकथा 'एक कहानी यह भी' की भाषा बहुआयामी एवं प्रयोगात्मक है। लेखिका ने अपने जीवन की यथार्थ को इस कहानी के विषयवस्तु के रूप में प्रस्तुत किया है। इस आत्मकथात्मक कृति के भाषा में विभिन्न भाषाओं के शब्द यथाः तद्भव, तत्सम, देशज, विदेशज, ऊर्दू आदि।

तद्भव शब्द : अधूरा, उम्मीद, इंतजार, विश्वविद्यालय, कार्यक्रम, मनोरंजन, क्रोध, आश्वस्त, प्रतिष्ठा, वास्तविकता, विस्तर, सहपाठी, अनुशासन, अभ्यास, अतिथि, आंसू, अभिशाप आदि तद्भव शब्दों का प्रयोग इस आत्मकथा के भाषा में रोचकता लाया है।[4]

तत्सम शब्द : अचेतन, प्रतिछाया, असहिष्णुता, आत्मा, दंश, नृत्य, वंश, सत्य, दृश्य, हृदय, तर्क-वितर्क, उपस्थिति, पौरुष, दुर्लभ, नृत्य- गायन, माता, सुंदर, आदि शब्दों ने आत्मकथा के भाषा को प्रभावी बनाया है।[5]

विदेशज शब्दः स्कूल, क्लास, गर्ल, कार्ड, दफ्तर, डॉक्टर, बस, बोनस, डांस, एयरपोर्ट, प्रोग्राम, पेन, ट्रस्ट, पेंट आदि शर्दों का प्रयोग काफी प्रभावी तरीके से किया गया है।[6]

अरबी शब्दः औलाद, खराब, असर, कसूर, हौसला, दिमाग, दवा, हिसाब, लायक, ख्याल, दुनिया आदि अरवी शर्दो का भी प्रयोग किया गया है।[7]

फारसी शब्दः अफसोस, आवाज, आमदनी, मुफ्त, मरहम, जैसे शब्दों का प्रयोग भी मन्नू जी ने यथासंभव किया है।

पुर्तगाली शब्दः अलमारी, मेज, कमरा आदि..।

चीनी शब्दः चाय ।

तुर्की शब्दः तलाश, काबू आदि ।

ऊर्दू शब्द, मंजिल, अहसास, जिद्द, हौसला आदि

आत्मकथा में इन तमाम शब्दों के प्रयोग से इसकी भाषा बहुरंगी हो गई है जिससे इसके भाषा में विविधता परिलक्षित होती है।

शैली : मन्नू भंडारी ने अपनी आत्मकथ्य एक कहानी यह भी आत्मपरक शैली में लिखी है। इस आत्मकथ्य में भाषा एवं शिल्प की सादगी देखने को मिलती है। आत्मपरक-शैली, इस आत्मकथ्य की शैली के दृष्टि से सुंदर अभिव्यक्ति प्रदान करती है। भाषा की तरह शैली भी प्रभावपूर्ण है। उदाहरण देखिए

मन्नू भण्डारी के शब्दों में:- "मेरा और राजेंद्र का संबंध जितना निजता और अंतरंगता के दायरे में आता है, उससे कहीं अधिक लेखन के दायरे में आता है। लेखन के कारण ही हमने विवाह किया था । हम पति-पत्नी बने थे। उस समय मुझे लगता था कि राजेंद्र से विवाह करने लेखन के लिए तो जैसे राजमार्ग खुल जाएगा और उस समय यही एकमात्र मेरा काम्य था। उस समय कैसे मैं यह भूल गई कि शादी करते ही मेरे व्यक्तित्व के दो हिस्से हो जाएँगे.. लेखक और पत्नी ।"[8]

एक अन्य उदाहरण

मन्नू जी के शब्दों में:- "पिछले दस वर्षों में अपने मन की दस पंक्तियाँ भी न लिख पाने के पीछे कहीं यही कारण तो नहीं? नहीं, बहुत ईमानदारी से मन का कोना-कोना टटोलकर देख लिया आत्ममुग्ध तो क्या, मैं तो अपने लिखे को लेकर कभी आत्म-तुष्ट भी नहीं हो पाई ।"[9]

इस आत्मकथ्य में लेखिका ने मुहावरे प्रयोग करके रचना को रोचक बनाया है। उदाहरण के तौर पर देखिए..

मन्नू जी लिखती हैं:- "इस बीच पिताजी के एक निहायती दकियानूसी मित्र ने घर आकर अच्छी तरह पिताजी की तू उतारी ।"[10]

एक अन्य उदाहरण देखिए...

"पत्र पढ़ते ही पिताजी आग-बबूला हो उठे।"[11] अतः कहा जा सकता है कि मन्नू भंडारी की भाषा शैली प्रभावशाली है। एक कहानी यह भी की भाषा शैली में विविधता दिखाई पड़ती है। जिससे उनकी भाषा शैली व्यापक और समृद्ध नजर आती है । उन्होंने अपनी रचनाओं में प्रभावपूर्ण साहित्यिक भाषा का प्रयोग किया । इनकी शिल्प-विधान से बनावटीपन और कृत्रिमता नहीं झलकती है। इन्होंने परिनिष्ठित संस्कृत भाषा का प्रयोग किया है। जिससे

भाषा को परिष्कृत किया । भाषा संरचना में प्रतीकों, बिंबों, और मुहावरों का प्रयोग किया है। अंततः कहा जा सकता है कि एक कहानी यह भी की शिल्प विधान उत्कृष्ट है।

संदर्भ सूची

1. https://sahityasrijan.com
2. भंडारी, मन्नू, एक कहानी यह भी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2008, पृष्ठ सं. 07
3. भंडारी, मन्नू, एक कहानी यह भी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2008, पृष्ठ सं. 07
4. वही पृष्ठ सं.1-100
5. वही पृष्ठ सं.1-100
6. वही पृष्ठ सं.1-100
7. वही पृष्ठ सं.1-100
8. भंडारी, मन्नू, एक कहानी यह भी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2008, पृष्ठ सं. 10
9. वहीं पृष्ठ सं. 13
10. वहीं पृष्ठ सं. 24
11. वहीं पृष्ठ सं. 23

आषाढ़ का एक दिन : कथ्य–विधान

निभा कुमारी*

शोध-सार :

कथानक किसी भी नाटक का प्रमुख और अनिवार्य तत्व होता है। इसके माध्यम से नाटककार अपने विचारों, संवेदनाओं तथा उद्देश्य को पाठकों और दर्शकों तक प्रभावपूर्ण ढंग से पहुँचाता है। नाटककार अपनी रचना में जो कुछ अभिव्यक्त करना चाहता है, उसे वह कभी किसी काल्पनिक कथा के माध्यम से प्रस्तुत करता है तो कभी वास्तविक जीवन की घटनाओं को आधार बनाकर उन्हें कलात्मक रूप देता है।

आषाढ़ का एक दिन का कथानक अतीत पर आधारित है। इस नाटक का नायक कालिदास है, जिन्हें भारतीय साहित्य का सर्वोच्च शिखर माना जाता है। इतिहास में कालिदास के जीवन के संबंध में अधिक प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। इसी कारण मोहन राकेश ने बिखरे हुए ऐतिहासिक संकेतों और कल्पनाशील अनुमान के आधार पर इस नाटक के कथानक का निर्माण किया है।

नाटक एक ऐसी कला-विधा है, जो मनुष्य और समाज के विविध पक्षों को उजागर करती है। नाटककार अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनेक पात्रों का सहारा लेता है। ये पात्र अपने विशिष्ट चरित्र, व्यवहार, संवाद और क्रियाकलापों के माध्यम से सामाजिक तथा मानवीय जीवन के विभिन्न आयामों को सजीव रूप में प्रस्तुत करते हैं। इसी कारण नाटक केवल मनोरंजन का माध्यम नहीं रह जाता, बल्कि समाज और मानव-जीवन की गहरी संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने वाली प्रभावशाली साहित्यिक विधा बन जाता है।

बीज शब्द : संवेदना, साहित्यिक विधा, कथानक, फलागम, यथार्थवाद, अभिव्यक्त और अवसरवादी ।

"मोहन राकेश नई कहानी आंदोलन से जुड़े महत्वपूर्ण कथाकार थे। पंजाब विश्वविद्यालय से हिंदी और अँग्रेज़ी में एम. ए. थे। जीविका हेतु अध्यापन से जुड़े। कुछ वर्षो तक 'सारिका' के संपादक भी किए। 'आषाढ़ का एक दिन','आधे अधूरे' और 'लहरों के राजहंस' के महत्वपूर्ण नाटकों के रचनाकार हैं। 'संगीत नाटक अकादमी' से सम्मानित हैं। (आषाढ़ का एक दिन, लहरों के राजहंस, आधे अधूरे, पैर तले की ज़मीन (अधूरा, कमलेश्वर ने पूरा किया), कहानी संग्रह: क्वार्टर तथा अन्य कहानियाँ, पहचान तथा अन्य कहानियाँ, वारिस तथा अन्य कहानियाँ।

निबंध संग्रह: परिवेश, यात्रा वृतांत: आख़िरी चट्टान तक उपन्यास।"[1] साहित्य की अन्य विधाओं में लेखक अपने विचारों को सीधे व्यक्त कर सकता है, किंतु नाटक में वह अपने विचारों और भावनाओं को पात्रों के माध्यम से ही अभिव्यक्त करता है। मोहन राकेश के नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' में भी पात्र ही नाटककार की संवेदनाओं और अभिप्रेत को पाठकों तथा दर्शकों तक पहुँचाते हैं। पात्रों के विश्लेषण के अनेक आधार हो सकते हैं। मुख्य और गौण पात्रों के आधार पर देखा जाए तो कालिदास और मल्लिका इस नाटक के प्रमुख पात्र हैं। संपूर्ण कथानक इन्हीं दोनों के इर्द-गिर्द घूमता है। प्रथम अंक में कालिदास और मल्लिका के प्रेम का संकेत मिलता है। मल्लिका कालिदास की प्रतिभा और काव्य-सृष्टि से अत्यंत प्रभावित है तथा उसे राजकवि का सम्मान स्वीकार करने के लिए प्रेरित करती है।

द्वितीय अंक में कालिदास मंच पर उपस्थित नहीं होता, फिर भी उसकी उपस्थिति पूरे अंक में अनुभव की जाती है। इस अंक में ज्ञात होता है कि उसने 'ऋतुसंहार' के बाद अनेक रचनाएँ कीं, कई नाटकों का मंचन हुआ, उसने राजकुमारी प्रियंगुमंजरी से विवाह कर लिया और कश्मीर का शासक बनकर 'मातृगुप्त' नाम धारण कर लिया। इन

---

* एम.ए. (नेट), बाबासाहेब भीमराव अंबेदकर बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

घटनाओं के माध्यम से मल्लिका का चरित्र और अधिक स्पष्ट होकर सामने आता है। उसकी संवेदनशीलता, त्याग, संयम, एकनिष्ठ प्रेम तथा धैर्य पाठकों को गहराई से प्रभावित करते हैं।

तृतीय अंक में कालिदास और मल्लिका का पुनर्मिलन होता है, किंतु परिस्थितियाँ उन्हें एक नहीं होने देतीं। मल्लिका के जीवन-संघर्ष और पीड़ा का मार्मिक चित्रण पाठकों को उद्वेलित कर देता है। दूसरी ओर कालिदास का आत्मस्वीकृतिपूर्ण संवाद उसकी विवशता, आंतरिक द्वंद्व और नए जीवन की आकांक्षा को व्यक्त करता है। इस प्रकार नाटक का अंत पारंपरिक "फलागम" से भिन्न होकर अत्यंत यथार्थवादी बन जाता है।

नाटक के अन्य पात्र भी अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। अंबिका मल्लिका की व्यावहारिक जीवन-दृष्टि का प्रतिनिधित्व करती है, जबकि विलोम कालिदास के विपरीत यथार्थवादी दृष्टिकोण का प्रतीक है। मातुल, निक्षेप, प्रियंगुमंजरी, रंगिनी-संगिनी तथा अनुस्वार-अनुनासिक जैसे पात्र कम समय के लिए उपस्थित होते हुए भी कथानक को गहराई प्रदान करते हैं और मुख्य पात्रों के व्यक्तित्व को विभिन्न कोणों से उद्घाटित करते हैं। इसलिए इन्हें केवल गौण पात्र कहना उचित नहीं होगा; ये सहायक पात्र के रूप में नाटक को सशक्त बनाते हैं।

प्रतिनिधि और सामान्य पात्रों की दृष्टि से भी यह नाटक अत्यंत महत्वपूर्ण है। कालिदास आधुनिक रचनाकार का प्रतिनिधित्व करता है, जिसे अपनी प्रतिभा के विकास के लिए सत्ता का आश्रय लेना पड़ता है, किंतु राजनीति और कला के अंतर्विरोधों के कारण वह अंततः आंतरिक द्वंद्व का शिकार हो जाता है। मल्लिका आधुनिक संवेदनशील और स्वतंत्र विचारों वाली नारी का प्रतीक है, जो प्रेम और त्याग के माध्यम से अपनी विशिष्ट पहचान बनाती है। अंबिका व्यावहारिक जीवन-दृष्टि की पक्षधर है, जबकि विलोम यथार्थवादी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है।

दंतुल सत्ता के अहंकार का प्रतीक है, मातुल अवसरवादी मानसिकता का प्रतिनिधि है, और प्रियंगुमंजरी राजसत्ता की उस प्रवृत्ति को व्यक्त करती है जो दूसरों की भावनाओं की अपेक्षा अपने वैभव को अधिक महत्व देती है। अनुस्वार और अनुनासिक राजकर्मचारियों की निष्क्रिय मानसिकता को उजागर करते हैं, जबकि रंगिनी और संगिनी आधुनिक शोध-प्रवृत्ति की प्रतीक हैं, जो समस्या के मूल तक पहुँचने के बजाय उसके विश्लेषण में ही संतुष्टि अनुभव करती हैं। पात्रों के वर्गीकरण का एक अन्य आधार उनकी स्थिरता और गतिशीलता है। स्थिर पात्र वे होते हैं जिनके विचार और व्यवहार में विशेष परिवर्तन नहीं आता, जबकि गतिशील पात्र परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहते हैं। आषाढ़ का एक दिन में मातुल को छोड़कर अधिकांश पात्र स्थिर हैं। मातुल आरंभ में अवसरवादी और चाटुकार दिखाई देता है, किंतु अंत में राजसत्ता और कृत्रिम जीवन से उसका मोहभंग हो जाता है। इसके विपरीत कालिदास आरंभ से अंत तक भावुक, कल्पनाशील और उदात्त व्यक्तित्व वाला पात्र बना रहता है। मल्लिका, अंबिका और विलोम के चरित्रों में भी मूलतः स्थिरता दिखाई देती है। इस प्रकार मोहन राकेश ने अपने नाटक आषाढ़ का एक दिन में पात्र-योजना और चरित्र-चित्रण के माध्यम से मानवीय संबंधों, संवेदनाओं, संघर्षों तथा सामाजिक यथार्थ को अत्यंत प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है।

कालिदास का नाम भारतीय ही नहीं, बल्कि विश्व साहित्य में अत्यंत सम्मान और गौरव के साथ लिया जाता है। उज्जयिनी में सम्राट चंद्रगुप्त के आश्रय में रहकर उन्होंने संस्कृत साहित्य को अनेक उत्कृष्ट कृतियाँ प्रदान कीं। उनकी साहित्यिक प्रतिभा से प्रभावित होकर पाश्चात्य विद्वानों ने उन्हें संस्कृत साहित्य का "शेक्सपीयर" तक कहा है।

हालाँकि पाठकों को कालिदास के व्यक्तित्व के संबंध में अधिक जानकारी उनकी रचनाओं से ही प्राप्त होती है। वे इतने महान साहित्यकार कैसे बने, उनकी प्रेरणाएँ क्या थीं, उनके जीवन में कौन-कौन से संघर्ष और चुनौतियाँ आईं — इन प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर इतिहास में उपलब्ध नहीं है। इसी प्रकार यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता

कि कवि कालिदास और कश्मीर के शासक मातृगुप्त एक ही व्यक्ति थे अथवा भिन्न। जयशंकर प्रसाद ने अपने नाटक चंद्रगुप्त में दोनों को एक ही व्यक्ति माना है, किंतु इतिहास इस विषय में मौन दिखाई देता है।

मोहन राकेश ने इसी ऐतिहासिक मौन और सीमित तथ्यों के आधार पर अपनी कल्पनाशक्ति से कालिदास के व्यक्तित्व का नवीन एवं प्रभावशाली रूप प्रस्तुत किया है। आषाढ़ का एक दिन में कालिदास केवल एक महान कवि के रूप में नहीं, बल्कि एक संवेदनशील मनुष्य, संघर्षशील कलाकार और अंतर्द्वंद्व से ग्रस्त व्यक्ति के रूप में उभरकर सामने आते हैं। नाटककार ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि एक साधारण व्यक्ति से महान साहित्यकार बनने की प्रक्रिया में कालिदास को किन मानसिक संघर्षों, दुविधाओं और पीड़ाओं से गुजरना पड़ा।

इस नाटक में कालिदास के साहित्यकार और राज्याधिकारी दोनों रूपों को मानवीय संवेदनाओं के साथ चित्रित किया गया है। सत्ता, प्रेम, महत्वाकांक्षा और रचनात्मकता के बीच उत्पन्न संघर्षों ने उनके व्यक्तित्व को गहराई प्रदान की है। इस प्रकार मोहन राकेश ने इतिहास और कल्पना के समन्वय से कालिदास के चरित्र को आधुनिक दृष्टि से पुनर्सृजित किया है।

इसी संदर्भ में गिरीश रस्तोगी का यह कथन अत्यंत सार्थक प्रतीत होता है कि मोहन राकेश ने कालिदास को केवल ऐतिहासिक व्यक्तित्व के रूप में नहीं, बल्कि आधुनिक संवेदनाओं से जुड़े हुए एक जीवंत और संघर्षशील मनुष्य के रूप में प्रस्तुत किया है।

"साहित्यइतिहास के समय से नहीं बँधता न ही समय में इतिहास का विस्तार करता है। युग से युग को अलग नहीं करता, कई कई युगों को एक साथ जोड़ देता है। इस तरह इतिहास के आज और कल, कल और आज नहीं रह जाते समय की असीमता में कुछ ऐसे जुड़े हुए क्षण बन जाते है, जो जीवनको दिशा संकेत देने की दृष्टि से अविभाज्य हैं। इस तरह साहित्य में इतिहास अपनी यथातथ्य घटनाओं में व्यक्त नहीं होता, घटनाओं को जोड़ने वाली ऐसी कल्पनाओं में व्यक्तहोता है, जो अपने ही एक नये और अलग रूप में इतिहास का निर्माण करती है। इसलिए जो आषाढ़का एक दिन नाटक और उसके नायक कालिदास को ऐतिहासिक नाटक और ऐतिहासिक व्यक्तित्व समझकर ही देखेंगे वह उनकी एक नितान्त भ्रामक दृष्टि होगी और उनका नाटक की आत्मा तक, मौलिकतातक पहुंचना ही मुशिकल होगा।"[2]

आषाढ़ का एक दिन के प्रारंभ में कालिदास का अत्यंत संवेदनशील और करुणामय रूप दिखाई देता है। वे राजपुरुष के बाण से घायल हुए मृगशावक को बचाने के लिए व्याकुल हो उठते हैं। उनकी कोमल भावनाएँ और प्रकृति के प्रति गहरा प्रेम इस प्रसंग में स्पष्ट रूप से व्यक्त होता है। कालिदास उस घायल मृगशावक को विश्राम देने के लिए उसे कोमल बिस्तर पर लिटाना चाहते हैं तथा उसके लिए गर्म दूध की व्यवस्था करने की चिंता करते हैं।

इतना ही नहीं, वे राजकर्मचारियों के व्यापक अधिकारों से परिचित होने के बावजूद राजपुरुष दंतुल से निर्भीक होकर विवाद भी करते हैं। यह प्रसंग उनके संवेदनशील, साहसी और मानवीय व्यक्तित्व को उजागर करता है। इससे स्पष्ट होता है कि कालिदास केवल महान कवि ही नहीं, बल्कि जीव-जंतुओं और प्रकृति के प्रति गहरी करुणा रखने वाले उदार हृदय व्यक्ति भी हैं। हम जिएँगे हरिणशावका जिएँगे न? एक बाण से आहतहोकर हम प्राण नहीं देंगे। हमारा शरीर कोमल है तो क्या हुआ? हम पीड़ा सह सकते हैं।एक बाण प्राण ले सकता है, तो उंगलियों का कोमल स्पर्श प्राण दे भी सकता है। हमें नयेप्राण मिल जाएँगे। हम कोमल आस्तरण पर विश्राम करेंगे। हमारे अंगों पर घृत का लेप होगा।कल फिर वनस्थली में धूमेंगे । कोमल दूर्वा खाएंगे"[3]

कालिदास भले ही अत्यधिक भावुक और कुछ हद तक अव्यावहारिक प्रतीत होते हों, किंतु वे मूर्ख नहीं हैं। वे परिस्थितियों की प्रकृति, उनकी सीमाओं तथा उनकी गंभीरता को भली-भाँति समझते हैं। उन्हें यह अनुभव है कि मल्लिका का प्रेम और स्नेह ही उनके भीतर काव्य-सृजन की प्रेरणा जगाता है। गाँव का सहज, स्वाभाविक और शांत

वातावरण तथा प्रकृति की रमणीय छवियाँ उनकी रचनात्मक चेतना को उर्वर बनाती हैं। इसी कारण वे अपने साहित्यिक जीवन को पूरी निष्ठा और समर्पण के साथ जी पाते हैं।

कालिदास उज्जयिनी जाने और राजाश्रय स्वीकार करने को लेकर पूरी तरह आश्वस्त नहीं हैं। उन्हें भय है कि राजदरबार की सुख-सुविधाएँ, कृत्रिम जीवन-शैली और नए दायित्व उनकी स्वतंत्र रचनात्मकता को बाधित कर देंगे। वर्तमान परिस्थिति में वे अपनी इच्छा और संवेदना के अनुसार स्वतंत्र रूप से लिख सकते हैं, किंतु राज्याश्रय स्वीकार करने के बाद उन्हें सत्ता और समाज की अपेक्षाओं तथा रुचियों के अनुरूप लेखन करना पड़ेगा। यही अंतर्द्वंद्व उनके संवेदनशील कलाकार-मन को निरंतर विचलित करता रहता है। उसकी घोषणा कि "मैं राजकीय मुद्राओं से क्रीत होने के लिये नहींहूँ।"[4]

कालिदास और मल्लिका का प्रेम आद्योपान्त आषाढ़ का एक दिन नाटक में दिखाई देता है। "फिर एक बार सोचो, मल्लिका । प्रश्न सम्मान और राज्याश्रय स्वीकार करने का ही नहीं है। उससे कहीं बड़ाएक प्रश्न मेरे सामने है। [5]" कालिदास तृतीय अंक में पुनः लौटते हैं, क्योंकि वे अपने वर्तमान जीवन से भीतर ही भीतर असंतुष्ट और विचलित हैं। उनके लंबे संवाद में उनके मन का द्वंद्व, भावनात्मक पीड़ा तथा आत्मग्लानि स्पष्ट रूप से व्यक्त होती है। वे अपने पूर्व व्यवहार और परिस्थितियों का स्पष्टीकरण देने का प्रयास करते हैं तथा मल्लिका के साथ पुनः जीवन आरंभ करने की इच्छा प्रकट करते हैं।

किन्तु इस बीच मल्लिका ने जिन संघर्षों और यातनाओं का सामना किया, उसकी ओर कालिदास का ध्यान पर्याप्त रूप से नहीं जाता। समाज के व्यंग्य, उपेक्षा और जीवन की कठिन परिस्थितियों को मल्लिका ने मौन रहकर सहा है। जब कालिदास उसकी संतान को देखते हैं, तो बिना कुछ कहे वहाँ से चले जाते हैं। वे न तो मल्लिका की इच्छाओं को समझने का प्रयास करते हैं और न ही उसकी भावनाओं को जानने की कोशिश करते हैं।

इन घटनाओं के आधार पर कालिदास का व्यक्तित्व अत्यंत आत्मकेंद्रित, दुविधाग्रस्त और कमजोर दिखाई देता है। वे एक संवेदनशील कलाकार तो हैं, किंतु जीवन के कठोर यथार्थ और संबंधों की जिम्मेदारियों का पूरी दृढ़ता से सामना नहीं कर पाते। अंबिका ने उनके व्यक्तित्व को प्रारंभ से ही सही रूप में पहचान लिया था। वह समझती थी कि कालिदास भावनाओं और कल्पनाओं में जीने वाले व्यक्ति हैं, जिनमें जीवन की व्यावहारिक चुनौतियों का सामना करने का पर्याप्त साहस नहीं है।

वह व्यक्ति आत्मसीमित है संसार में अपने सिवाउसे और किसी से मोह नहीं है।"[6]

कालिदास के व्यक्तित्व में स्वाभाविक आत्मविश्वास दिखाई देता है। जब आचार्य वररूचि उन्हें राजकवि का सम्मान प्रदान करने के लिए उज्जयिनी ले जाने आते हैं, तब वे अपने मामा मातुल से स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि वे राजकीय अनुग्रह या सत्ता के आकर्षण के लिए अपनी स्वतंत्रता का सौदा नहीं कर सकते। इससे उनके आत्मसम्मान और कलाकार-स्वभाव का परिचय मिलता है।

कालिदास मूलतः अत्यंत संवेदनशील और प्रतिक्रियाशील व्यक्ति हैं। वे सामान्य लोगों की तरह सहज और स्थिर जीवन नहीं जी पाते, बल्कि परिस्थितियों और भावनाओं के प्रभाव में निर्णय लेते हैं। विलोम और अंबिका उनके स्वभाव को भली-भाँति समझते हैं। वे जानते हैं कि बाहरी रूप से विरोध करने के बावजूद अंततः कालिदास उज्जयिनी अवश्य जाएँगे, और ऐसा ही होता है। आगे चलकर वे प्रियंगुमंजरी से विवाह भी कर लेते हैं।

मल्लिका कालिदास की इन उपलब्धियों को अपने अभावपूर्ण और संघर्षमय जीवन की प्रतिक्रिया के रूप में देखती है। उसके अनुसार कालिदास ने वैभव, प्रतिष्ठा और सत्ता को प्राप्त तो कर लिया, किंतु इस प्रक्रिया में वे अपने मूल जीवन-सत्य, संवेदनाओं और आत्मीय संबंधों से दूर होते चले गए। मैं नहीं जानता था कि अभावऔर भत्सना का जीवन जीने के बाद प्रतिष्ठा और सम्मान के वातावरण में जाकर मैं कैसा अनुभवकरूंगा।........."[7]

प्रकृति की गोद में पली मल्लिका प्रकृति की बाला है। उसके मन में प्राकृतिकसौन्दर्य की गहरी आकांक्षा है। नाटक की शुरुआत में वह अपने प्रेमी कालिदास के साथ आषाढकी पहली बारिश में भीगती है। मल्लिका ने कहा कि"आषाढ़ का पहला दिन और ऐसी वर्षा माँ ऐसी धारासार वर्षा! दूर– दूर तककी उपत्यकाएं भीग ....! ...गईं।..और मैं भी तोदेखो न माँ !, कैसी भीग गई हूँ[8]!

उसेअपने अभावपूर्ण जीवन से कोई शिकायत नहीं है, न ही उसकी चिंता लोकापवाद की है। वह कालिदासके जाने, मिलने न आने और आकर चले जाने से दुखी है, लेकिन शिकायत नहीं करता। वह हर घटनाको, चाहे वह कालिदास हो या उसका राजकन्या से विवाह हो, तार्किक ढंग से समझाती है।"व्यक्ति उन्नति करता है तो उसके नाम के साथ कईतरह के अपवाद जुडने लगते हैं। [9]"जब व्यक्ति को समाज में प्रतिष्ठित स्थान मिलता है । तो उसकी उपाधि व्याधि के समान हो जाती है । जिससे आपवाद जुड़ ही जाता है।

"उनके प्रसंग में मेरी बात कहींनहीं आती। मैं अनेकानेक साधारण व्यक्तियों में से हूं । वे असाधारण है। उन्हें जीवनमें असाधारण का ही साथ चाहिए था । [10] सुना है राज–दुहिता बहुत विदुषी है। .....मल्लिका निक्षेप से बोलती है कि मैं एक साधारण व्यक्ति हूं। कालिदास साधारण से अधिक हैं। मैंउनके प्रसंग में नहीं आ सकती । उनको अपने जीवन में विशेष ही चाहिए था । सुना है राजदुहिताबहुत बुद्धिमान हैं । "इसके विपरीत मुझे अपने से ग्लानि होती है, कि यह, ऐसी मैं, उनकी प्रगति में बाधा भी बन सकती थी। आपके कहने से मैं उन्हेंजाने के लिए प्रेरित न करती, तो कितनी बड़ी क्षति होती?" [11]

डॉ. नगेन्द्र हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखते है कि "आषाढ़ का एक दिन' महाकवि कालिदास के परिवेश, रचना-प्रक्रिया, प्रेरणा-स्रोत और उनके चुक जाने से सम्बद्ध है। यह दो प्रकार के संघर्षों पर आधारित है- परिवेशमूलक संघर्ष और आंतरिक संघर्ष ।"[12]

आषाढ़ का एक दिन आधुनिक मनुष्य के आंतरिक द्वंद्व और उसकी मानसिक जटिलताओं को अत्यंत प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करता है। यद्यपि इस नाटक की पृष्ठभूमि ऐतिहासिक है, फिर भी इसमें आधुनिक जीवन की समस्याओं और अवसरवादी प्रवृत्तियों की स्पष्ट झलक दिखाई देती है। नाटक यह संकेत करता है कि राजसत्ता और वैभव का आकर्षण मनुष्य को केवल उसकी कर्मभूमि से ही दूर नहीं करता, बल्कि उसे अपने आत्मीय संबंधों और मूल संवेदनाओं से भी विमुख कर देता है।

कालिदास का चरित्र इसी द्वंद्व का प्रतीक है। राजाश्रय प्राप्त करने के बाद वे धीरे-धीरे अपने ग्राम, अपनी मिट्टी और अपने निकट संबंधों से दूर होते चले जाते हैं। सत्ता और प्रतिष्ठा प्राप्त करने के क्रम में वे अपने मूल जीवन-सत्य को लगभग भूल जाते हैं। नाटक यह स्थापित करता है कि राजा मनुष्य को आश्रय तो दे सकता है, किंतु वास्तविक संरक्षण और आत्मिक शांति केवल मातृभूमि ही प्रदान करती है। यही कारण है कि अंततः राजसत्ता और उसके कृत्रिम वैभव से ऊबकर कालिदास पुनः अपनी जड़ों की ओर लौटने का प्रयास करते हैं।

मोहन राकेश ने कालिदास के चरित्र को इतिहास और कल्पना के समन्वय से निर्मित करते हुए उसे आधुनिक संदर्भों से जोड़ दिया है। नाटक में कालिदास केवल ऐतिहासिक व्यक्तित्व नहीं रह जाते, बल्कि वे ऐसे रचनाकार के रूप में सामने आते हैं, जो सत्ता और सृजन के बीच निरंतर संघर्ष करता रहता है। आज भी अनेक बुद्धिजीवी, कलाकार और रचनाशील व्यक्तित्व राज्याश्रय, पद, प्रतिष्ठा और प्रशासनिक आकर्षण के मोह में अपने सृजनात्मक जीवन से समझौता करते दिखाई देते हैं। इस नाटक का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष सत्ता और सृजन के बीच का द्वंद्व है। कालिदास जब सत्ता को स्वीकार करते हैं, तब उनकी स्वतंत्र रचनात्मकता बाधित होने लगती है। दूसरी ओर यदि वे पूर्णतः सृजन के मार्ग को चुनते, तो संभवतः उन्हें सत्ता और वैभव का त्याग करना पड़ता। यही संघर्ष आधुनिक मनुष्य की भी सबसे बड़ी विडंबना बन गया है। आज का व्यक्ति भी सत्ता, प्रतिष्ठा और सृजनात्मक स्वतंत्रता

के बीच उलझा हुआ दिखाई देता है। इस प्रकार आषाढ़ का एक दिन केवल एक ऐतिहासिक नाटक नहीं, बल्कि आधुनिक जीवन की गहन संवेदनाओं, संघर्षों और मानवीय विडंबनाओं का सशक्त दस्तावेज है। इसमें नाटककार की दूरदर्शिता और गहरी सामाजिक दृष्टि स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है।

संदर्भ सूची

1. https://www.hindwi.org/authors/mohan-rakesh/profile
2. राकेश,मोहन, आषाढ़ के एक दिन, राजपाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली, संस्करण 2022, पृष्ठ सं. 35
3. वही, पृष्ठ सं. 15
4. वही, पृष्ठ सं.. 31
5. वही, पृष्ठ सं. 42-44
6. वही, पृष्ठ सं. 23
7. वही, पृष्ठ सं. 99
8. वही, पृष्ठ सं. 8
9. वही, पृष्ठ सं. 52
10. वही, पृष्ठ सं. 53
11. वही, पृष्ठ सं. 53
12. सं. डॉ. नगेन्द्र, हरदयाल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, संस्करण 59 वाँ 2018, दिल्ली, पृष्ठ सं. 662

1956 ई. के बाद भारत में राज्यों का पुनर्गठन : राजनीतिक, भाषाई एवं प्रशासनिक परिप्रेक्ष्य में अध्ययन

अनिल कुमार सिंह*

सारांश

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत के समक्ष राष्ट्रीय एकता, प्रशासनिक सुविधा तथा सांस्कृतिक विविधता को संतुलित करने की बड़ी चुनौती थी। ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों के विलय के पश्चात राज्यों की सीमाएँ ऐतिहासिक और प्रशासनिक आधार पर बनी हुई थीं, जो अनेक स्थानों पर भाषाई एवं सांस्कृतिक आकांक्षाओं के अनुरूप नहीं थीं। इसी पृष्ठभूमि में 1956 ई. का राज्य पुनर्गठन अधिनियम भारतीय संघीय व्यवस्था के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना सिद्ध हुआ। इस अधिनियम के माध्यम से राज्यों का पुनर्गठन मुख्यतः भाषाई आधार पर किया गया, जिससे भारतीय संघ को अधिक स्थिर और संगठित स्वरूप प्राप्त हुआ।

यह शोध पत्र 1956 ई. के बाद राज्यों के पुनर्गठन की प्रक्रिया, उसके कारणों, विभिन्न आयोगों की भूमिका, भाषाई आंदोलनों तथा राजनीतिक और प्रशासनिक प्रभावों का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। अध्ययन में यह स्पष्ट किया गया है कि राज्य पुनर्गठन ने एक ओर क्षेत्रीय पहचान और लोकतांत्रिक भागीदारी को सुदृढ़ किया, वहीं दूसरी ओर क्षेत्रवाद और पृथकतावादी प्रवृत्तियों जैसी चुनौतियाँ भी उत्पन्न कीं।

यह अध्ययन द्वितीयक स्रोतोंकृपुस्तकों, शोध पत्रों, सरकारी दस्तावेजों और ऐतिहासिक अभिलेखोंकृपर आधारित है। अध्ययन से निष्कर्ष निकलता है कि राज्यों का पुनर्गठन भारतीय लोकतंत्र की आवश्यक प्रक्रिया थी, जिसने राष्ट्रीय एकता और प्रशासनिक दक्षता दोनों को मजबूत किया।

शब्द कुंजी : राज्य पुनर्गठन, भाषाई राज्य, संघवाद, राज्य पुनर्गठन आयोग, आंध्र प्रदेश, क्षेत्रवाद, भारतीय संविधान, प्रशासनिक विकेंद्रीकरण, संघीय व्यवस्था, भाषाई आंदोलन

प्रस्तावना

भारत एक विशाल और बहुभाषी राष्ट्र है जहाँ विभिन्न धर्म, भाषाएँ, संस्कृतियाँ और क्षेत्रीय पहचानें विद्यमान हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारत की राजनीतिक और प्रशासनिक संरचना अत्यंत जटिल थी। ब्रिटिश शासन के दौरान प्रांतों की सीमाएँ प्रशासनिक सुविधा और औपनिवेशिक हितों के आधार पर निर्धारित की गई थीं, न कि भाषाई या सांस्कृतिक आधार पर। इसके अतिरिक्त देशी रियासतों के विलय के बाद भारतीय संघ में अनेक विविधतापूर्ण क्षेत्र सम्मिलित हुए। परिणामस्वरूप स्वतंत्र भारत के सामने सबसे बड़ी चुनौतियों में से एक थी। ऐसी प्रशासनिक व्यवस्था का निर्माण जो राष्ट्रीय एकता बनाए रखते हुए क्षेत्रीय आकांक्षाओं को भी सम्मान दे सके।

स्वतंत्रता के पश्चात प्रारंभिक वर्षों में भारत के राज्यों को चार भागों भाग 'A', भाग 'B', भाग 'C' और भाग 'D' में विभाजित किया गया था। यह व्यवस्था अस्थायी थी और प्रशासनिक दृष्टि से बहुत प्रभावी नहीं मानी जाती थी। विभिन्न क्षेत्रों में भाषाई आधार पर राज्यों की माँग तेजी से उठने लगी। लोगों का मानना था कि यदि प्रशासन और शासन उनकी मातृभाषा में होगा, तो लोकतंत्र अधिक प्रभावी बनेगा तथा जनता की भागीदारी बढ़ेगी।

भाषाई आधार पर राज्यों की माँग का सबसे प्रमुख उदाहरण तेलुगु भाषी लोगों का आंदोलन था। पोट्टि श्रीरामुलु ने पृथक आंध्र राज्य की माँग को लेकर आमरण अनशन किया। 1952 में उनके निधन के बाद व्यापक जनआंदोलन हुआ, जिसके दबाव में केंद्र सरकार को 1953 में आंध्र राज्य का गठन करना पड़ा। यह घटना भारतीय राजनीति में एक निर्णायक मोड़ सिद्ध हुई और अन्य भाषाई समूहों ने भी पृथक राज्यों की माँग तेज कर दी।

इन परिस्थितियों को देखते हुए भारत सरकार ने 1953 में राज्य पुनर्गठन आयोग की स्थापना की। इस आयोग के अध्यक्ष न्यायमूर्ति फजल अली थे, जबकि के.एम. पणिक्कर और हृदयनाथ कुंजरू इसके सदस्य थे। आयोग का उद्देश्य राज्यों की सीमाओं और संरचना का अध्ययन कर उपयुक्त सुझाव देना था। आयोग ने

* नेट (राजनीति विज्ञान)

विस्तृत अध्ययन के बाद 1955 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की, जिसमें भाषाई आधार को महत्वपूर्ण माना गया, किंतु राष्ट्रीय एकता और प्रशासनिक सुविधा को भी प्राथमिकता दी गई।

आयोग की सिफारिशों के आधार पर 1956 में राज्य पुनर्गठन अधिनियम पारित किया गया। इसके माध्यम से भारतीय राज्यों की सीमाओं में व्यापक परिवर्तन किए गए। 14 राज्यों और 6 केंद्रशासित प्रदेशों का गठन हुआ। यह भारतीय संघीय व्यवस्था के इतिहास का सबसे बड़ा प्रशासनिक पुनर्गठन था।

1956 के बाद भी राज्यों के पुनर्गठन की प्रक्रिया जारी रही। महाराष्ट्र और गुजरात का गठन 1960 में हुआ। 1966 में पंजाब का पुनर्गठन कर हरियाणा का निर्माण किया गया तथा हिमाचल प्रदेश को अलग प्रशासनिक इकाई का स्वरूप मिला। उत्तर–पूर्व भारत में नागालैंड, मेघालय, मणिपुर, त्रिपुरा, मिजोरम और अरुणाचल प्रदेश जैसे नए राज्यों का गठन क्षेत्रीय और जनजातीय आकांक्षाओं के आधार पर किया गया।

इसी प्रकार वर्ष 2000 में उत्तराखंड, झारखंड और छत्तीसगढ़ का गठन हुआ। 2014 में तेलंगाना के निर्माण ने यह स्पष्ट किया कि भारत में राज्यों का पुनर्गठन एक सतत प्रक्रिया है, जो क्षेत्रीय असंतोष, प्रशासनिक आवश्यकता और विकास संबंधी अपेक्षाओं से जुड़ी हुई है।

राज्यों के पुनर्गठन के अनेक सकारात्मक प्रभाव पड़े। इससे प्रशासनिक दक्षता में वृद्धि हुई, क्षेत्रीय भाषाओं और संस्कृतियों को संरक्षण मिला तथा लोकतंत्र अधिक सहभागी बना। स्थानीय लोगों को अपनी भाषा और संस्कृति के अनुसार शासन में भागीदारी का अवसर मिला। इससे राष्ट्रीय एकता को भी मजबूती मिली क्योंकि क्षेत्रीय असंतोष को संवैधानिक और लोकतांत्रिक तरीके से संबोधित किया गया।

हालाँकि राज्यों के पुनर्गठन से कुछ चुनौतियाँ भी उत्पन्न हुईं। कई स्थानों पर क्षेत्रवाद, भाषाई विवाद, सीमा विवाद और पृथकतावादी आंदोलनों को बल मिला। उदाहरण के लिए महाराष्ट्र–कर्नाटक सीमा विवाद, असम और अन्य उत्तर–पूर्वी राज्यों के बीच सीमा विवाद, तथा तेलंगाना आंदोलन जैसी घटनाएँ दर्शाती हैं कि राज्य पुनर्गठन हमेशा सरल प्रक्रिया नहीं रही।

समकालीन भारत में भी विदर्भ, गोरखालैंड, बुंदेलखंड और हरित प्रदेश जैसे नए राज्यों की माँग समय–समय पर उठती रहती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि राज्य पुनर्गठन केवल प्रशासनिक विषय नहीं है, बल्कि यह पहचान, विकास, संस्कृति और राजनीतिक प्रतिनिधित्व से जुड़ा हुआ प्रश्न है।

भारतीय संविधान ने संघीय ढाँचे को लचीला बनाया है, जिसके अंतर्गत संसद को राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन करने का अधिकार प्राप्त है। यही लचीलापन भारतीय लोकतंत्र की विशेषता है, जिसने विविधताओं से भरे देश को एकता के सूत्र में बाँधने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

अतः 1956 ई. के बाद राज्यों का पुनर्गठन भारतीय संघीय व्यवस्था के विकास की एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया रही है। इसने न केवल प्रशासनिक संरचना को अधिक प्रभावी बनाया, बल्कि क्षेत्रीय आकांक्षाओं और राष्ट्रीय एकता के बीच संतुलन स्थापित करने का प्रयास भी किया। वर्तमान समय में जब क्षेत्रीय पहचान और विकास संबंधी माँगें निरंतर उभर रही हैं, तब राज्यों के पुनर्गठन का अध्ययन भारतीय राजनीति और प्रशासन को समझने के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाता है।

उद्देश्य

इस शोध पत्र के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

1. 1956 ई. के राज्य पुनर्गठन की पृष्ठभूमि का अध्ययन करना।
2. राज्य पुनर्गठन आयोग की भूमिका और सिफारिशों का विश्लेषण करना।
3. भाषाई आधार पर राज्यों के निर्माण की प्रक्रिया को समझना।

साहित्य की समीक्षा

1. ग्रेनविल ऑस्टिन का दृष्टिकोण (1999)

ग्रेनविल ऑस्टिन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक The Indian Constitution: Cornerstone of a Nation में भारतीय संविधान और संघीय ढाँचे का विस्तृत विश्लेषण किया है। उनके अनुसार भारतीय संविधान निर्माताओं के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती यह थी कि विविधताओं से भरे राष्ट्र को एकीकृत कैसे रखा जाए।

ऑस्टिन का मत है कि राज्यों का पुनर्गठन भारतीय संघवाद की व्यावहारिक आवश्यकता थी। वे मानते हैं कि यदि भाषाई और क्षेत्रीय आकांक्षाओं की उपेक्षा की जाती, तो राष्ट्रीय एकता को गंभीर खतरा उत्पन्न हो सकता था। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि संविधान निर्माताओं ने प्रारंभ में भाषाई राज्यों के निर्माण को टालने का प्रयास किया क्योंकि उन्हें आशंका थी कि इससे क्षेत्रवाद बढ़ सकता है।

ऑस्टिन के अनुसार 1956 का राज्य पुनर्गठन अधिनियम भारतीय लोकतंत्र की परिपक्वता का प्रमाण था, क्योंकि इसने क्षेत्रीय पहचान को संवैधानिक मान्यता देते हुए राष्ट्रीय एकता को बनाए रखा। उन्होंने भारतीय संघवाद को "सहकारी संघवाद" (Cooperative Federalism) की संज्ञा दी।

2. पॉल आर. ब्रास (Paul R- Brass) का अध्ययन (1991)

पॉल आर. ब्रास ने भाषाई राजनीति और जातीय पहचान पर विस्तृत शोध किया। उनकी पुस्तक Ethnicity and Nationalism: Theory and Comparison भारतीय राज्यों के पुनर्गठन को समझने में अत्यंत उपयोगी मानी जाती है।

ब्रास का मत है कि भाषाई पहचान भारतीय राजनीति में अत्यंत शक्तिशाली तत्व रही है। उनके अनुसार भाषाई राज्यों का निर्माण केवल प्रशासनिक परिवर्तन नहीं था, बल्कि यह लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व और सांस्कृतिक सम्मान की प्रक्रिया थी।

उन्होंने विशेष रूप से आंध्र आंदोलन, महाराष्ट्र आंदोलन तथा पंजाबी सूबा आंदोलन का विश्लेषण करते हुए बताया कि भाषाई पहचान राजनीतिक लामबंदी का प्रमुख आधार बन गई थी।

हालाँकि ब्रास ने यह भी चेतावनी दी कि भाषाई और क्षेत्रीय पहचान की राजनीति कई बार क्षेत्रवाद और पृथकतावाद को जन्म दे सकती है। उनके अनुसार भारत ने अपनी लोकतांत्रिक प्रणाली के माध्यम से इन चुनौतियों को काफी हद तक नियंत्रित किया।

3. बी.एल. फड़िया का योगदान (2018)

बी.एल. फड़िया ने भारतीय शासन व्यवस्था और राजनीति पर अपने अध्ययनों में राज्यों के पुनर्गठन को भारतीय संघवाद के विकास की महत्वपूर्ण प्रक्रिया माना है।

फड़िया के अनुसार राज्य पुनर्गठन का मुख्य उद्देश्य प्रशासनिक दक्षता और जनसहभागिता को बढ़ाना था। वे मानते हैं कि भाषाई आधार पर राज्यों के निर्माण से प्रशासन जनता के अधिक निकट आया तथा स्थानीय भाषाओं और संस्कृतियों को संरक्षण मिला।

उन्होंने यह भी बताया कि पुनर्गठन के बाद क्षेत्रीय दलों का प्रभाव बढ़ा, जिससे भारतीय राजनीति में गठबंधन युग की शुरुआत हुई। फड़िया के अनुसार यह परिवर्तन लोकतंत्र के विस्तार का संकेत था, किंतु इससे राजनीतिक अस्थिरता की समस्या भी उत्पन्न हुई।

4. एम.पी. जैन का संवैधानिक विश्लेषण (2016)

एम.पी. जैन ने अपनी पुस्तक Indian Constitutional Law में राज्यों के पुनर्गठन के संवैधानिक आधार का विस्तृत अध्ययन किया है।

उन्होंने भारतीय संविधान के अनुच्छेद 2 और 3 की व्याख्या करते हुए बताया कि संसद को राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन करने तथा नए राज्यों के निर्माण का अधिकार प्राप्त है। यह प्रावधान भारतीय संघीय व्यवस्था को लचीला बनाता है।

जैन के अनुसार भारतीय संघवाद की सबसे बड़ी विशेषता उसकी अनुकूलन क्षमता है। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि भारतीय संविधान ने राज्यों के पुनर्गठन की प्रक्रिया को लोकतांत्रिक और संवैधानिक स्वरूप प्रदान किया।

5. सुभाष कश्यप का दृष्टिकोण (2014)

सुभाष कश्यप ने भारतीय राजनीति और संविधान के अध्ययन में राज्यों के पुनर्गठन को राष्ट्रीय एकता से जोड़कर देखा है।

उनके अनुसार भाषाई राज्यों का निर्माण भारत की लोकतांत्रिक भावना के अनुरूप था क्योंकि इससे लोगों को अपनी भाषा और संस्कृति के अनुसार शासन में भागीदारी मिली।

कश्यप ने यह भी उल्लेख किया कि राज्य पुनर्गठन ने कई क्षेत्रों में विकास को गति प्रदान की। उदाहरणस्वरूप गुजरात और महाराष्ट्र के निर्माण के बाद दोनों राज्यों ने औद्योगिक और आर्थिक विकास के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति की।

हालाँकि उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि कुछ क्षेत्रों में पुनर्गठन से सीमा विवाद और क्षेत्रीय असंतोष उत्पन्न हुए।

6. बीपिन चंद्र का ऐतिहासिक दृष्टिकोण (2009)

बीपिन चंद्र ने अपनी पुस्तक India Since Independence में स्वतंत्रता के बाद भारत के राजनीतिक विकास का विस्तृत वर्णन किया है।

बीपिन चंद्र के अनुसार भाषाई राज्यों का निर्माण भारतीय राष्ट्रवाद के विरुद्ध नहीं था, बल्कि यह भारतीय लोकतंत्र को मजबूत करने का माध्यम था। वे मानते हैं कि भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन ने विविधताओं में एकता की भावना को बढ़ावा दिया था, इसलिए भाषाई राज्यों के निर्माण से राष्ट्रीय एकता कमजोर नहीं हुई।

उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि यदि भाषाई आकांक्षाओं की उपेक्षा की जाती, तो अलगाववादी आंदोलनों को बढ़ावा मिल सकता था।

कार्य प्रणाली

यह शोध गुणात्मक एवं वर्णनात्मक पद्धति पर आधारित है।

तथ्य संग्रहण के स्रोत

- पुस्तकें
- सरकारी रिपोर्ट
- आयोगों की रिपोर्ट
- शोध पत्र
- समाचार पत्र एवं पत्रिकाएँ

शोध का स्वरूप

- ऐतिहासिक
- विश्लेषणात्मक
- वर्णनात्मक

राज्य पुनर्गठन आयोग (1953)

सदस्य	पद
फजल अली	अध्यक्ष
के.एम. पणिक्कर	सदस्य
हृदयनाथ कुंजरू	सदस्य

आयोग ने भाषाई आधार को स्वीकार किया, किंतु राष्ट्रीय एकता और प्रशासनिक सुविधा को सर्वोपरि माना।

1956 ई. का राज्य पुनर्गठन अधिनियम

1956 के अधिनियम द्वारा–

- 14 राज्यों का गठन हुआ।
- 6 केंद्रशासित प्रदेश बनाए गए।
- भाषाई आधार पर सीमाओं का निर्धारण किया गया।

सारणी : 1956 के बाद बने प्रमुख राज्य

वर्ष	राज्य	गठन का आधार
1960	महाराष्ट्र एवं गुजरात	भाषाई आधार
1963	नागालैंड	जनजातीय पहचान
1966	हरियाणा	भाषाई आधार
1972	मेघालय	जनजातीय पहचान
1987	गोवा	सांस्कृतिक एवं प्रशासनिक आधार
2000	झारखंड	क्षेत्रीय एवं जनजातीय आधार
2000	छत्तीसगढ़	प्रशासनिक सुविधा
2000	उत्तराखंड	क्षेत्रीय पहचान
2014	तेलंगाना	क्षेत्रीय असंतोष एवं विकास

परिणाम एवं विवेचना

सकारात्मक प्रभाव

1. प्रशासनिक सुविधा में वृद्धि
2. क्षेत्रीय भाषाओं और संस्कृतियों का संरक्षण
3. लोकतांत्रिक भागीदारी में वृद्धि
4. क्षेत्रीय असंतोष में कमी

नकारात्मक प्रभाव

1. क्षेत्रवाद का विकास
2. सीमा विवाद
3. पृथकतावादी आंदोलनों को बढ़ावा
4. संसाधनों के बँटवारे को लेकर विवाद

विवेचना

राज्यों का पुनर्गठन भारतीय लोकतंत्र की व्यावहारिक आवश्यकता थी। यदि भाषाई और क्षेत्रीय आकांक्षाओं को अनदेखा किया जाता, तो राष्ट्रीय एकता को खतरा हो सकता था। पुनर्गठन ने विविधताओं को संवैधानिक मान्यता दी और लोकतंत्र को मजबूत किया।

निष्कर्ष

1956 ई. के बाद राज्यों का पुनर्गठन भारतीय संघीय व्यवस्था के इतिहास में अत्यंत महत्वपूर्ण प्रक्रिया रही है। इसने भाषाई और सांस्कृतिक विविधताओं को सम्मान देते हुए राष्ट्रीय एकता को बनाए रखने का प्रयास किया।

राज्य पुनर्गठन ने प्रशासनिक दक्षता और लोकतांत्रिक भागीदारी को बढ़ावा दिया, किंतु इसके साथ क्षेत्रवाद और सीमा विवाद जैसी चुनौतियाँ भी सामने आईं। इसके बावजूद यह कहा जा सकता है कि भारतीय लोकतंत्र ने अपनी लचीली संघीय व्यवस्था के माध्यम से इन चुनौतियों का सफलतापूर्वक सामना किया है।

आज भी नए राज्यों की माँगें यह दर्शाती हैं कि राज्य पुनर्गठन एक सतत प्रक्रिया है। भविष्य में आवश्यकता इस बात की है कि राज्यों के निर्माण में केवल भाषाई या राजनीतिक आधार ही नहीं, बल्कि आर्थिक विकास, प्रशासनिक सुविधा और राष्ट्रीय हितों को भी समान महत्व दिया जाए।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. Austin, G. (1999). *The Indian Constitution: Cornerstone of a Nation*. New Delhi: Oxford University Press.
2. Brass, P. R. (1991). *Ethnicity and Nationalism: Theory and Comparison*. New Delhi: Sage Publications.
3. Fadia, B. L. (2018). *Indian Government and Politics*. Agra: Sahitya Bhawan.
4. Jain, M. P. (2016). *Indian Constitutional Law*. New Delhi: LexisNexis.
5. Kashyap, S. C. (2014). *Our Constitution*. New Delhi: National Book Trust.
6. Kumar, A. (2005). "State Reorganization in India." *Indian Journal of Political Science*, 66(2), 321–334.
7. Government of India. (1955). *Report of the States Reorganisation Commission*. New Delhi: Government Press.
8. Singh, M. P., & Saxena, R. (2013). *Indian Politics: Constitutional Foundations and Institutional Functioning*. New Delhi: PHI Learning.
9. Dasgupta, A. (2001). *Regionalism in India*. New Delhi: Deep & Deep Publications.
10. Chandra, B. (2009). *India Since Independence*. New Delhi: Penguin Books.

बंगाल में नील आन्दोलन और निलहों का बिहार में प्रवेश

अजीत कुमार*

'नील' भारतवर्ष में नीला रंग के लिए प्रसिद्ध रहा है। भारतीय वाड.मय में नील वर्ण जैसे शब्दों का उपयोग मिलता है। नीला रंग धार्मिक कर्मकांड में भी प्रयुक्त होते हैं। भारत में नील की खेती प्राचीन काल से होती आई है। 'नील' एक पौधा है, जिससे नीला रंग तैयार किया जाता है। यह सूती कपड़ों में पीलेपन की समस्या से मुक्ति पाने का एक अस्त्र है। यह चूर्ण (पाउडर) तथा तरल दोनों रूपों में मिलता है। नील का पौधा दो–तीन हाथ ऊँचा होता है। इसकी पत्तियाँ छोटी–छोटी होती हैं, जो पत्तियाँ चमेली की तरह टहनी के दोनों ओर पंक्ति में लगती है। फूल मंजरियों में तथा लंबी–लंबी बबूल की तरह फलियाँ लगती है। इसके लगभग 300 प्रजातियाँ है। विश्व में कुल 700 प्रजातियाँ पाई जाती है। जिससे रंग निकाला जाता है तथा वे भारतवर्ष में होते हैं। भारतवर्ष ही नील का आदि स्थान है और यहीं सबसे पहले नील का उत्पादन हुआ।[1]

नील का वनस्पतीय नाम 'इंडिगोफेरा टिनक्टोरिया' है। जो मूल रूप से भारत में पाया जाता है। इसका उल्लेख चौथी शताब्दी ईसा पूर्व के पांडुलिपियों में किया गया है। नील के पौधे विश्व के विभिन्न भागों में उत्पन्न होते हैं। पूर्व और दक्षिणी अफ्रीका से इंडिगोफेरा अर्रेक्टा और उष्णकटिबंधीय अमेरिका से सफ्रूटीकोसा मिलता है। टिनक्टोरिया संभवतः एशियामूल का है।

भारत में वनस्पति रंगों का उपयोग सिन्धु घाटी काल में ईसा पूर्व चौथी और दूसरी सहस्राब्दी के बीच हुआ था। विनेशिया खोजकर्त्ता मार्कोपोलो ने भारतीय नील उद्योग का विस्तार से वर्णन किया और 11 वीं शताब्दी तक अरब व्यापारियों ने भूमध्यसागरीय क्षेत्र में नील की शुरूआत कर दी थी, जहाँ इसके अपने मूल नील रंग के पौधे, वोड (आइसैटिस टिनक्टोरिया) को बदल दिया था। मार्कोपोलो ने 1298 में केरल में नील देखा था। 16 वीं शताब्दी में बड़े पैमाने पर नील की खेती आरंभ हुआ। 16वीं शताब्दी तथा 17वीं शताब्दी में आये यूरोपीयों द्वारा इसका उल्लेख किया गया। 'नील' का उल्लेख 'प्लीनी' ने भी किया है। उसने अपने ग्रंथ में नील को 'इंडिगो' कहा है। डिओस्कोराइडस इसे 'इंडिकोन' कहते हैं।[2]

अबुलफजलकृत आइन–ए–अकबरी[3] में नील के संबंध में वर्णन मिलता है जिसमें ना ही इसके उपयोग की चर्चा है ना व्यावसायिक इस्तेमाल की।[4] उस समय नील पश्चिमी भारत में उगता था। मुगल शासन के पतनशील काल में जिस समय ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी भारत में पाँव जमा रही थी, उस समय नील के निर्यात में तेजी था। इस काल में नील का उत्पादन पूवोत्तर भारत के गंगा घाटी क्षेत्र, दक्षिण भारत तथा पश्चिम भारत में नील की खेती का जिक्र मिलता है।[5] उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य ब्रिटिश हुकुमतवाले दौर में बंगाल–बिहार में ज्यादा उगाया जाने लगा। उस समय नील की खेती व्यावसायिक संविदा के आधार पर की जाती थी। उस समय बीज का उत्पादन कम नमीवाले इलाकों में ही होता था, क्योंकि नमीवाले इलाके में बरसात शुरू होते ही इतने कीड़े आ जाते थे जो नील की फसल को ही चट कर जाते थे और बीज निकला भी तो बहुत खराब। पर यहाँ व्यावसायिक खेती होने के दौर तक हिंदुस्तानी नील को दुनिया के बाजार में मध्य अमेरिका, वेस्टइंडीज और जावा–सुमात्रा (बर्मा–इंडोनेशिया) जैसे पड़ोसी देशों के नील से मुकाबला करना होता था। यह मुख्यतः रंग–रोगन के काम आता था वह भी कपड़ों को रंगीन बनाने में और धीरे–धीरे भारतीय नील पर सब आश्रित होते गए।[6]

ईस्ट इंडिया कंपनी पूरब में व्यापार के लिए अधिकृत थी। इसलिए ब्रिटिश नागरिकों को स्वतंत्र व्यापार का अधिकार प्राप्त नहीं था।

ईस्ट इंडिया कंपनी भारत में अधिपत्य स्थापित कर लिया, तो ब्रिटिश शासन को अत्यधिक लाभांश देकर अपना एकाधिकार बनाये रखा। इसके लिए उसने राजस्व प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार के उपाय किया, जिसमें कृषि के व्यावसायिक रूप को बढ़ावा दिया गया। अनेक उद्योगें को बढ़ावा दिया गया। सस्ती मजदूरी के लिए गुलाम व्यापार गिरमिटिया प्रथा का विकास किया गया। व्यावसायिक फसलों की खेती शुरू करना, लोगों को नई व्यावसायिक फसल आधारित उत्पादों का चस्का लगाना (अपने यहाँ भी चाय–कॉफी का प्रचार–प्रसार करने के उनके तरीकों को लोग भूले नहीं हैं) और नई फसलों के लिए किसानों के साथ संविदा

* एम0ए0 (इतिहास), इग्नू, यू0जी0सी0 नेट, 2013

आधारित खेती (कांट्रैक्ट फार्मिंग) को बढ़ावा देना शामिल था। उद्यमी प्रजा को लाइसेंस देकर इस काम के लिए प्रोत्साहित किया गया, कर्ज की गारंटी से पूँजी उपलब्ध कराई गई और व्यापार को संरक्षण दिया गया। तभी अफीम, चाय, गन्ना, कॉफी, कोकोआ की तरह नील भी व्यावसायिक खेती की चीज औपनिवेशिक शासन के दौर में बना। और धीरे–धीरे हालत यह हो गई कि तब के अंतरराष्ट्रीय व्यापार और औपनिवेशिक शासन में लगे लोग इसे 'ब्लू गोल्ड' कहने लगे थे।[7] भारत में इसका उपयोग तो खास नहीं था लेकिन पश्चिम का पूरा डाई अर्थात् रंग–रोगन उद्योग पहले इसी प्राकृतिक पौधे से बननेवाले नील पर निर्भर था।[8]

नील के पहले निर्यात का बड़ा आँकड़ा 1782 में मिलता है जब यह ईस्ट इंडिया कंपनी के निर्यात के सामानों में एक बना। 1788 में तिरहुत से भी नील बाहर जाने लगने के आँकड़े उपलब्ध हैं और बाद में तो तिरहुत का, जिसके अंदर चम्पारण भी आता है, नील दुनिया में सबसे उत्तम गुणवत्ता वाला माना जाने लगा। और 1830 के दशक तक आते–आते नील उत्पादन एक बड़ा व्यवसाय बन गया। निल उत्पादन के लिए मारकाट भी होता था। चूँकि कानूनी रूप से नील का व्यवसाय करनेवाले लोगों पर जमीन खरीदने की रोक थी। नीलहों को नील का उत्पादन सुनिश्चित करने का एक ही रास्ता उपलब्ध था कि वे किसानों से उनकी जमीन भाड़े पर लें। या किसान से ही उसकी जमीन पर नील के खेती करने का करार करें।

चूँकि नील के भारतीय मूल्य और यूरोपीय मूल्य में पचास गुने तक का अंतर रहा करता था, इसलिए उनके लिए किसी भी मूल्य पर करार करना सस्ता ही होता था। और जब शासन, कानून, न्यायपालिका और पुलिस सब कुछ 'अपना' ही हो तब महँगा करार करने की भी जरूरत नहीं होती थी।[9] पर बीच में एक जमींदार नामक प्राणी भी होता था जो कई बार टाँग अड़ाता था। और खास रूप से जब कोई किसान करार के मुताबिक नील पैदा करके न दे तब जुर्माना वसूली के समय वह बीच–बचाव या एक पक्ष लेने की कीमत भी वसूलता था। तब दूसरे उत्पादक भी नया करार लेकर आ जाते थे। पर धीरे–धीरे निलहों ने अपना अपना इलाका बना लिया और चम्पारण में तो जमींदारी भी हथिया ली, जिससे इस तरह की व्यावसायिक प्रतिद्वंद्विता के मामले भी नहीं दिखते। पर जब सैकड़ों नील उत्पादक और कोठीवाली हजारों–हजार किसानों से करार करते हों तब कुछ चूक और मुकदमे तो होने ही थे और हर कोठी के दफ्तर में कांट्रैक्ट और मुकदमे देखने की अलग–अलग व्यवस्था अनिवार्य रूप से होती ही थी। यह व्यवस्था तो सब जगह थी पर जब बंगाल से भागे निलहे बड़ी संख्या में चम्पारण और तिरहुत में आए तब उनका काम ज्यादा व्यवस्थित और जोर–जबरदस्ती का हुआ।[10] चम्पारण में तो उन्होंने वहाँ के लगभग पूरे इलाके पर जमींदारी हक रखनेवाले तीनों रजवाड़ों को षड्यंत्र के जरिए अपने चंगुल में फँसाकर जमींदारी का हक भी पा लिया जिससे उनका जुल्म और बढ़ गया। सिर्फ वे गाँव ही बचे रहे जिन्हें इन्हीं रजवाड़ों ने वृत्ति के तौर पर कुछ लोगों–जैसे विद्वानों, पुजारियों, संगीतज्ञों को या किसी की सेवा से खुश होकर बख्शीश में दे दिया था।[11]

अंग्रेजी राज सिर्फ षड्यंत्र से नहीं आया, स्थानीय शासकों की नालायकी और संयोग का भी हिस्सा इसमें था। जब 1764 में ईस्ट इंडिया कंपनी और शाह आलम की लड़ाई हुई और कंपनी जीत गई तब शाह आलम का सूबेदार खादिम हुसैन खाँ भागकर बेतिया शरण लेने आया। उसे पकड़ने के लिए मीरन और जनरल क्लाड बेतिया आए। मीरन की अकाल मृत्यु के चलते क्लाड वापस चला गया। पर थोड़े दिन बाद ही मीर कासिम ने बेतिया पर चढ़ाई करके उसे जीत लिया और अंगरेजों को दे दिया।[12] सन् 1778 में ही बिहार में सबसे पहले एलेक्जेंडर नोएल ने नील की आधुनिक फैक्टरी लगाई थी। उनकी नोयल एंड कंपनी तब नील का कारोबार करनेवालों में अगुआ थी। पुराने तिरहुत कमिश्नरी का पहले एक ही जिला था – मुजफ्फरपुर मुख्यालय था। उसके कलक्टर फैंक्वा ग्रेड ने अधिकारी रहते हुए बड़ी बेशर्मी से पैसे बनाए और नील की तीन फैक्टरियाँ खड़ी कीं। बेशर्मी से जब वे इस बात की घोषणा करने लगे तो ईस्ट इंडिया कंपनी ने उनको विदा कर दिया। पर उसी के आसपास डच भी आ गए और उन्होंने मोतीपुर में फैक्टरी लगाई। शुरू में डच, फ्रांसीसी और अंगरेज शोर के साथ नील के व्यापार में भी प्रतिद्वंद्वी रहे पर 1800 के आसपास अंगरेजों ने डच लोगों को खदेड़ दिया।[13]

1860 के दशक में निलहे बंगाल के उन इलाकों से जो आज ज्यादातर बांग्लादेश का हिस्सा हैं, से भी खदेड़ दिए गए– किसानों के प्रतिरोध, चारों ओर आलोचना और ब्रिटिश सरकार के अधिकारियों की रिपोर्ट से परेशान निलहे वहाँ रहना ठीक नहीं समझते थे।[14] वे अब बिहार और खासकर चम्पारण समेत इसके छह जिलों–तीन गंगा के उत्तर और तीन गंगा के दक्षिण, में आए और उन्होंने एकदम जाल–सा बिछा दिया। सन् 1788 में तिरहुत में नील की पाँच फैक्टरियाँ थीं जो 1810 में पंद्रह हो गई।[15] चम्पारण तब अलग जिला नहीं था इसलिए अलग हिसाब नहीं मिलता। पर तब भी 1810 में अकेले तिरहुत से 10000 मन नील कलकत्ता

बंदरगाह जाता था, जहाँ से इसे विदेश, खासकर जर्मनी भेज दिया जाता था। तब का यह मोटा अनुमान था कि जिस दर पर नील जर्मनी में बिकता था वह चम्पारण या भारतीय उत्पादक को मिलनेवाली कीमत से पचास गुना ज्यादा थी।[16]

जब बंगाल में नील की खेती के खिलाफ बगावत हुई, बहुत बवाल मचा, जाँच कमेटी बनी और कुछ सख्ती हुई तो अचानक निलहे उधर से भागने लगे। और फिर चम्पारण न सिर्फ उनका नया ठिकाना बना बल्कि यहाँ बाकी फसलों को छोड़कर नील के खेती पर सारा जोर (जबरदस्ती भी) हो गया।[17] 1860 के आसपास से, जब ईस्ट इंडिया कंपनी की जगह सीधे ब्रिटेन की सत्ता भी स्थापित हो गई, चम्पारण में नील की फैक्टरियाँ तेजी से लगने लगीं। बंगाल से भागे निलहों के साथ काफी ऐसे लोग आए जो फौज से या सरकारी सेवा से रिटायर हुए थे या जिनके परिवार के मुखिया की सेवा के दौरान मौत हो गई थी। सरकार इन्हें जमीन और पैसे देकर आगे के रोजगार देने की घोषित नीति से काम कर रही थी। राजस्व बढ़ाने की नीति के तहत अधिकारियों ने कई सेवानिवृत्त कर्मचारियों और अपने नाते–रिश्तेदारों को भी नील के कारोबार में उतारा। जब गांधी चम्पारण आए थे तब तक यहाँ 21 नील कोठियाँ और 59 फैक्टरियाँ थीं।[18] सबने अपने लिए आठ–दस मील का इलाका तय कर लिया था जो उनकी जमींदारी भी थी और उनके नील उत्पादन का क्षेत्र भी। सबने यहाँ के भारी–भरकम झीलों–मन और नदियों के किनारे अड्डा जमाया या पानी का इंतजाम कराया, क्योंकि नील उगाने से भी ज्यादा पौधों को गलाकर नील बनाने में काफी साफ पानी की जरूरत होती थी।[19]

इसके साथ यह भी हुआ कि जिस चम्पारण का कुल रकबा साढ़े तीन लाख वर्गमील था उसके लगभग दो लाख वर्गमील इलाके की मिल्कियत रखनेवाले बेतिया राज की हालत खराब हुईं राज अपनी आर्थिक स्थिति से भी ज्यादा अंगरेजों के षड्यंत्र से कोर्ट ऑफ वाडर्स में चला गया और 1888 में ब्रिटेन से बड़ा कर्ज, 85 लाख रूपए लेने के चलते पूरी तरह अंगरेजों की दया पर निर्भर हो गया। साढ़े सात–सात लाख के मुकर्ररी बंदोबस्त पर 14 कोठियों को मालगुजारी वसूलने और राजस्व बढ़ाने का ठेका दे दिया गया। उन्होंने आगे और छोटे–छोटे हिस्से करके देसी और गोरे ठेकेदार नियुक्त कर दिए। और हर कोई ज्यादा–से–ज्यादा कर वसूलने, राजस्व बढ़वाने की रेस में जुट गया और जितना राज को देना था उससे कई गुना ज्यादा अपनी जेब में डालने के लिए साम, दाम, दंड, भेद कर चीज अपनाने लगा। फिर रामनगर और मधुबन राज भी कर्ज में डूबे और अंग्रेजी प्रभाव में आ गए। या अंग्रेजी चाल में फँसकर बेतिया राज की गति को प्राप्त हुए।[20]

1857 के विद्रोह में अंग्रेजों के विरूद्ध संघर्ष की आग उत्तरी बिहार में भी पहुँची और इस आंदोलन में जमींदार और किसान, दोनों ने समान रूप से भाग लिया। इस कारण अंग्रेज अधिकारियों को जमींदार एवं किसान, दोनों की स्थिति को समझने का मौका मिला। बंगाल में सफल नील आन्दोलन हुआ। उसके फलस्वरूप नीलहे बिहार में आए।

1859 में प्रथम बंगाल टेनेन्सी ऐक्ट पारित किया गया।[21] इस ऐक्ट के माध्यम से रैयत एवं जमींदारों के बीच के तनावपूर्ण संबंध को कम करने के प्रयास किए गए। इसी अवधि में रेल यातायात में विस्तार हुआ जिसके कारण कम समय में, सुरक्षित और सस्ते तरीके से लंबी दूरी की यात्रा संभव हो पायी। इसके बाद ही ग्रामीण जनता को देश के वैसे भाग में जाने का अवसर मिल पाया जहाँ उनके लिए मजदूरी उपलब्ध थी और इस कारण भी भुखमरी से निजात के अवसर उपलब्ध होते थे। इसी अवधि में यूरोपियन निलहे ग्रामीण इलाकों में आकर बसे।[22] बिहार के गाँवों में आकर बसने का मुख्य कारण था कि 1859–60 में बंगाल के इलाके में और 1871 में बंगाल से सटे पाबना के क्षेत्र में निलहों के विरूद्ध संघर्ष हुआ था। निलहों को यह स्पष्ट हो गया कि वहाँ के स्थानीय जमींदारों द्वारा सबसे अधिक विरोध किए जा रहे हैं। इन आन्दोलनों के बाद सरकारी तंत्र के प्रति उनका झुकाव अधिक बढ़ गया और वे अपनी विश्वसनीयता प्रदर्शित कर सरकार से अधिक से अधिक विशेषाधिकार प्राप्त करने में सफल होते चले गए।[23]

1857 के आंदोलन के बाद निलहों द्वारा उत्पन्न स्थिति के कारण अंग्रेज सरकार चिन्तित रहने लगी। तत्कालीन गवर्नर लॉर्ड कैनिंग ने लिखा कि अगर किसी अबोध निलहे ने भय या क्रोध से गोली चला दी तो उसी वक्त दक्षिण बंगाल की सब कोठियों में रैयतों द्वारा आग लगा दी जाएगी।[24] बंगाल में निलहों द्वारा रैयतों के साथ किए जा रहे जुल्म के प्रतिकार के लिए हरिश्चन्द्र मुखर्जी ने काफी योगदान किया।[5] ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन भी इसके साथ सहानुभूति रखती थी। सरकारी अधिकारियों में सर विलियम हरसेल और एशली इडेन प्रमुख थे। इडेन साहब बाद में बंगाल के गवर्नर भी बने। धीरे–धीरे निलहों के प्रति

विरोध बढ़ता चला गया और 1864 में इस विद्रोह में लगभग 50 लाख किसान सम्मिलित हो गए।[26] नादिया जिले के चौगछा गाँव के विश्वनाथ सरदार ने सर्वप्रथम निलहें साहबों के खिलाफ मोर्चा लिया और नील–आन्दोलन के प्रथम शहीद बने। नील–किसानों का विद्रोह सफल हुआ। बंगाल में नील की खेती बंद हो गई।। इसके बाद निलहें चम्पारण क्षेत्र में आने लगे। शुरू में निलहों के पास न तो कोई जमीन थी और न जमीन पर अधिकार ही था। बेतिया राज से गाँवों का ठेका लेकर जिरात प्रथा के अंतर्गत वे नील की खेती करवाते थे लेकिन यह कार्य काफी छोटे पैमाने पर होता था। बेतिया राज द्वारा एक गाँव की जितनी जमींदारी तय थी, उतने पैसे निलहे द्वारा बेतिया राज में जमा कर दिए जाते थे और उस गाँव की रैयतों से वे नील की खेती करवाते थे।[27]

बेतिया राज को बैठे–बैठे मालगुजारी मिल जाती थी और कोठीवालों को भी बहुत लाभ होता था। नील की अधिक से अधिक खेती करवाकर लाभ कमाने की प्रवृत्ति के कारण रैयतों का शोषण होता था। इसके लिए वे रैयतों को समझाकर, फुसलाकर, मिलकार या डरा–धमका कर अपने ही खेतों में नील की खेती करने के लिए बाध्य करते। कुछ दिनों बाद जिन शर्तों पर रैयत नील बोया करते थे उसे एक सट्टे के रूप में लिखा जाने लगा। सट्टा में लिखा होता था कि अमुल किसान अपनी जोत के प्रति बीघा तीन कट्ठे में कई वर्षों तक (20 से 30 वर्षों तक) नील बोया करेंगे। किस खेत में नील बोया जायेगा, वह कोठी के कर्मचारी ही निश्चित करेंगे। खेत तैयार करने का कार्य रैयत द्वारा किया जाएगा परन्तु इसकी निगरानी कोठी के कर्मचारियों द्वारा की जाएगी। यदि शर्त के अनुसार रैयत नील की खेती नहीं करती है तो उससे एक बड़ी रकम हरजाने के रूप में वसूल की जाएगी।[28]

1857 के विद्रोह में अंग्रेजों के विरूद्ध संघर्ष की आग उत्तरी बिहार में भी पहुँची और इस आंदोलन में जमींदार और किसान, दोनों ने समान रूप से भाग लिया। इस कारण अंग्रेज अधिकारियों को जमींदार एवं किसान, दोनों की स्थिति को समझने का मौका मिला। बंगाल में सफल नील आन्दोलन हुआ। उसके फलस्वरूप नीलहे बिहार में आए।

1857 के विद्रोह में अंग्रेजों के विरूद्ध संघर्ष की आग उत्तरी बिहार में भी पहुँची और इस आंदोलन में जमींदार और किसान, दोनों ने समान रूप से भाग लिया। इस कारण अंग्रेज अधिकारियों को जमींदार एवं किसान, दोनों की स्थिति को समझने का मौका मिला। बंगाल में सफल नील आन्दोलन हुआ। उसके फलस्वरूप नीलहे बिहार में आए।

संदर्भ

1. ni.m.wikipedia.org./wiki/नील # 9.12.2021
2. वही
3. अबुल फजल कृत आईने अकबरी
4. अरविन्द मोहन, चम्पारण सत्याग्रह की कहानी, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017, पृ0 62
5. वही
6. वही
7. प्रभात कु0 शुक्ल, इंडिगो एंड द राजः पीजेंट्स इन बिहार, 1780–1917, प्रगति प्रकाशन, 2004, पृ–3
8. भैरब लाल दास, चम्पारण में गाँधी की सृजन–यात्रा, बिहार विद्यापीढ, पटना, 2017, पृ–5
9. अरविन्द मोहन – पूर्वोक्त, पृ0 63
10. राजेन्द्र प्रसाद, चंपारण में महात्मा गाँधी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 2014, पृ0 11
11. अरविन्द मोहन, पूर्वोक्त
12. भैरव लाल दास, महात्मा गाँधी के तीसरे गुरू पं0 राजकुमार शुक्ल, आदित्य इंटरप्राईजेज, पटना, 2021, पृ0 16
13. वही
14. भैरव लाल दास, चम्पारण में गाँधी की सृजन यात्रा बिहार विद्यापीठ, पटना, 2017
15. राजेन्द्र प्रसाद, सत्याग्रह इन चंपारण, नवजीवन, अहमदाबाद
16. अरविन्द मोहन–पूर्वोक्त
17. वही
18. राजेन्द्र प्रसाद, चंपारण में महात्मा गाँधी
19. वही
20. अरविन्द मोहन, पूर्वोक्त

21. सी.ई.बकलैंड, खंड–1, पृष्ठ 393–555ए खंड–2, पृष्ठ–556–593, 872
22. बकलैंड, खंड–2, पृष्ठ–732, (सोन केनाल के बन जाने से स्थिति में सुधार होना आरंभ हो गया।)
23. सुनील सेन, पीजेन्ट्स मूवमेंट इन इंडिया, 1982, कलकत्ता, पृष्ठ – 11–18
24. वही
25. वही
26. वही
27. राजेन्द्र प्रसाद, चम्पारण में महात्मा गांधी, 1965, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, पृष्ठ 10–11
28. वही

आर्थिक सशक्तिकरण में मनरेगा की भूमिका : एक विश्लेषण

डॉ. सुनिता कुमारी*

सारांश -

प्रस्तुत शोध पत्र "आर्थिक सशक्तिकरण में मनरेगा की भूमिका : एक विश्लेषण" है भारत के ग्रामीण समाज में गरीबी केवल आर्थिक समस्या नहीं, बल्कि सामाजिक असमानता, बेरोजगारी और संसाधनों के असमान वितरण से जुड़ी बहुआयामी समस्या है। विशेष रूप से बिहार में भूमिहीनता, अशिक्षा और पलायन ने ग्रामीण गरीबों की स्थिति को जटिल बनाया है। ऐसी परिस्थिति में Mahatma Gandhi National Rural Employment Guarantee Act (मनरेगा) ग्रामीण गरीबों के आर्थिक एवं सामाजिक सशक्तिकरण का महत्वपूर्ण माध्यम बनकर उभरा है। यह अध्ययन बिहार में मनरेगा की समाजशास्त्रीय भूमिका का विश्लेषण करता है। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि मनरेगा ने ग्रामीण गरीबों को रोजगार, सामाजिक सुरक्षा और अधिकार आधारित चेतना प्रदान की है। महिलाओं एवं दलित समुदायों की भागीदारी में वृद्धि हुई है तथा ग्रामीण पलायन में कमी आई है। इसके अतिरिक्त, योजना ने ग्रामीण अर्थव्यवस्था और सामाजिक समावेशन को भी मजबूत किया है। हालाँकि भ्रष्टाचार, मजदूरी भुगतान में देरी और सीमित रोजगार दिवस जैसी चुनौतियाँ अभी भी मौजूद हैं, फिर भी मनरेगा ग्रामीण विकास और सामाजिक न्याय की दिशा में एक प्रभावी योजना सिद्ध हुई है।

कूटशब्द-मनरेगा, ग्रामीण गरीबी, आर्थिक सशक्तिकरण, सामाजिक परिवर्तन, बिहार, ग्रामीण विकास।

प्रस्तावना

भारतीय ग्रामीण समाज लंबे समय से आर्थिक असमानता, जातिगत विभाजन, बेरोजगारी और संसाधनों के असमान वितरण जैसी समस्याओं से प्रभावित रहा है। ग्रामीण भारत में गरीबी केवल आय की कमी का प्रश्न नहीं है, बल्कि यह सामाजिक बहिष्करण, अवसरों की असमानता और शक्ति संरचना से भी जुड़ी हुई समस्या है। बिहार जैसे राज्य में यह स्थिति और अधिक जटिल दिखाई देती है, जहाँ बड़ी संख्या में लोग भूमिहीनता, अशिक्षा और असंगठित श्रम पर निर्भर हैं। ग्रामीण गरीबों के जीवन में आर्थिक असुरक्षा के साथ-साथ सामाजिक उपेक्षा भी एक बड़ी चुनौती रही है।

ऐसी परिस्थिति में महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम (मनरेगा) केवल एक रोजगार योजना के रूप में नहीं, बल्कि ग्रामीण समाज में सामाजिक परिवर्तन और आर्थिक सशक्तिकरण के माध्यम के रूप में उभरकर सामने आया। मनरेगा ने ग्रामीण गरीबों को मजदूरी आधारित रोजगार उपलब्ध कराने के साथ-साथ उन्हें सामाजिक पहचान, आत्मसम्मान और अधिकार आधारित सुरक्षा भी प्रदान की। समाजशास्त्रीय दृष्टि से देखा जाए तो यह योजना ग्रामीण शक्ति संरचना, श्रम संबंधों और सामाजिक भागीदारी में महत्वपूर्ण परिवर्तन लाने वाली योजना सिद्ध हुई है । बिहार के संदर्भ में मनरेगा का अध्ययन विशेष महत्व रखता है, क्योंकि यहाँ ग्रामीण गरीबी, जातिगत असमानता और पलायन की समस्या लंबे समय से सामाजिक संरचना का हिस्सा रही है। मनरेगा ने इन समस्याओं को किस प्रकार प्रभावित किया, यह समाजशास्त्रीय अध्ययन का महत्वपूर्ण विषय है।

ग्रामीण गरीबी का अध्ययन

गरीबी को सामान्यतः आर्थिक दृष्टि से देखा जाता है, लेकिन समाजशास्त्र में गरीबी को समस्या माना जाता है। यह केवल भोजन, वस्त्र और आवास की कमी नहीं, बल्कि सामाजिक अवसरों से वंचित होना भी है। ग्रामीण बिहार में गरीब वर्ग प्रायः निम्न जातियों, भूमिहीन मजदूरों, महिलाओं और हाशिए पर रहने वाले समुदायों से संबंधित होता है।

समाजशास्त्री ऑस्कर लुईस ने "गरीबी की संस्कृति" (Culture of Poverty) की अवधारणा दी थी, जिसके अनुसार लंबे समय तक गरीबी में रहने वाले समुदायों में निराशा, असुरक्षा और सामाजिक हीनता की भावना विकसित हो जाती है। बिहार के ग्रामीण क्षेत्रों में यह स्थिति स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है, जहाँ कई पीढ़ियों से गरीब परिवार मजदूरी और अस्थायी रोजगार पर निर्भर रहे हैं।

भूमि असमानता बिहार की ग्रामीण सामाजिक संरचना की एक महत्वपूर्ण विशेषता रही है। गाँवों में उच्च जातियों और बड़े किसानों के पास अधिक भूमि रही, जबकि दलित और पिछड़े वर्ग के लोग मुख्यतः खेतिहर मजदूर के रूप में कार्य करते रहे। इससे आर्थिक शोषण और सामाजिक निर्भरता की स्थिति बनी रही। मनरेगा ने इस पारंपरिक शक्ति संरचना को कुछ हद तक चुनौती दी।

* मगध विश्वविद्यालय, बोधगया

मनरेगा : अधिकार आधारित विकास की अवधारणा

मनरेगा भारतीय ग्रामीण विकास की उन योजनाओं में से है जिसने "कल्याणकारी सहायता" की जगह "अधिकार आधारित विकास" की अवधारणा को मजबूत किया। पहले गरीबों को सरकारी सहायता दया या अनुग्रह के रूप में दी जाती थी, लेकिन मनरेगा ने रोजगार को कानूनी अधिकार का रूप दिया।

समाजशास्त्रीय दृष्टि से यह बदलाव महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे गरीब वर्गों में नागरिकता और अधिकार चेतना विकसित हुई। अब मजदूर पंचायत से रोजगार मांग सकते हैं और काम नहीं मिलने पर जवाबदेही तय कर सकते हैं। इससे ग्रामीण गरीबों में आत्मविश्वास और राजनीतिक जागरूकता बढ़ी।

मनरेगा ने गरीबों को केवल मजदूरी नहीं दी, बल्कि उन्हें सामाजिक सुरक्षा का अनुभव भी कराया । यह योजना ग्रामीण समाज में "राज्य और नागरिक" के संबंध को मजबूत करने वाली योजना के रूप में भी देखी जाती है।

बिहार में मनरेगा और सामाजिक परिवर्तन

बिहार के ग्रामीण समाज में लंबे समय तक जाति आधारित श्रम विभाजन विद्यमान रहा। दलित और महादलित समुदाय पारंपरिक रूप से खेतिहर मजदूरी, सफाई कार्य और निम्न आय वाले कार्यों में लगे रहे। मनरेगा ने पहली बार इन समुदायों को पंचायत स्तर पर सरकारी रोजगार उपलब्ध कराया।

इससे सामाजिक संबंधों में परिवर्तन देखने को मिला। पहले मजदूरों को बड़े किसानों और जमींदारों पर निर्भर रहना पड़ता था, लेकिन मनरेगा ने उन्हें वैकल्पिक रोजगार उपलब्ध कराया। इससे मजदूरों की सौदेबाजी की शक्ति बढ़ी और निजी खेतों में मजदूरी दरों में भी वृद्धि हुई। यह परिवर्तन ग्रामीण शक्ति संरचना में बदलाव का संकेत देता है। अब गरीब मजदूर केवल आश्रित श्रमिक नहीं रहे, बल्कि अधिकार संपन्न नागरिक के रूप में उभरने लगे हैं।

महिलाओं का आर्थिक और सामाजिक सशक्तिकरण

ग्रामीण बिहार में महिलओं की स्थिति लंबे समय तक पितृसत्तात्मक व्यवस्था से प्रभावित रही है। अधिकांश महिलाएँ घरेलू कार्यों तक सीमित थीं और आर्थिक गतिविधियों में उनकी भागीदारी कम थी। मनरेगा ने महिलाओं को मजदूरी कार्यों में भाग लेने का अवसर दिया, जिससे उनकी सामाजिक स्थिति में परिवर्तन आया।

मनरेगा में महिलाओं को पुरुषों के समान मजदूरी मिलने का प्रावधान है। यह लैंगिक समानता की दिशा में महत्वपूर्ण कदम माना जाता है। कई गाँवों में महिलाओं ने पहली बार अपने नाम से बैंक खाते खुलवाए और आर्थिक लेन-देन में भागीदारी शुरू की।

अमर्त्य सेन के "क्षमता दृष्टिकोण" (Capability Approach) के अनुसार विकास का अर्थ केवल आय वृद्धि नहीं, बल्कि लोगों की क्षमताओं और विकल्पों का विस्तार है। मनरेगा ने महिलाओं की निर्णय लेने की क्षमता को बढ़ाया। अब वे बच्चों की शिक्षा, स्वास्थ्य और घरेलू खर्चों से जुड़े निर्णयों में भाग लेने लगी हैं।

बिहार के कई जिलों में महिलाओं ने मनरेगा से प्राप्त आय को स्वयं सहायता समूहों और जीविका कार्यक्रमों से जोड़ा। इससे उनमें सामूहिकता और सामाजिक सहभागिता की भावना विकसित हुई।

दलित और महादलित समुदायों पर योजना का प्रभाव

बिहार में दलित समुदाय लंबे समय तक सामाजिक बहिष्करण का शिकार रहा है। आर्थिक संसाधनों की कमी और जातिगत भेदभाव के कारण ये समुदाय विकास की मुख्यधारा से दूर रहे। मनरेगा ने दलित मजदूरों को पंचायत स्तर पर रोजगार उपलब्ध कराकर उनकी आर्थिक निर्भरता कम की। पहले उन्हें साहूकारों और बड़े किसानों से कर्ज लेना पड़ता था, लेकिन नियमित मजदूरी मिलने से उनकी स्थिति में सुधार हुआ।

मनरेगा कार्यस्थलों पर जातिगत दूरी अपेक्षाकृत कम दिखाई देती है। विभिन्न जातियों के लोग एक साथ कार्य करते हैं, जिससे सामाजिक संपर्क बढ़ता है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से यह "सामाजिक समावेशन" (Social Inclusion) की प्रक्रिया को मजबूत करता है। आज भी कुछ क्षेत्रों में अभी भी जातिगत भेदभाव की घटनाएँ सामने आती हैं, लेकिन मनरेगा ने सामाजिक समानता की दिशा में सकारात्मक प्रभाव डाला है।

ग्रामीण पलायन और सामाजिक विघटन पर प्रभाव

बिहार में पलायन केवल आर्थिक समस्या नहीं, बल्कि सामाजिक समस्या भी है। जब परिवार का पुरुष सदस्य रोजगार के लिए दूसरे राज्यों में जाता है, तो परिवारिक संबंध कमजोर होते हैं। महिलाओं और बच्चों पर अतिरिक्त जिम्मेदारियाँ आ जाती हैं। कई बार बच्चों की शिक्षा भी प्रभावित होती है।

मनरेगा ने स्थानीय स्तर पर रोजगार उपलब्ध कराकर पलायन को आंशिक रूप से कम किया। इससे परिवारों का सामाजिक ढाँचा मजबूत हुआ। कोविड-19 महामारी के दौरान जब लाखों प्रवासी मजदूर बिहार लौटे, तब मनरेगा ने ग्रामीण समाज को आर्थिक संकट से बचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। देखा जाए तो मनरेगा ने ग्रामीण समुदायों में सामाजिक स्थिरता बनाए रखने में योगदान दिया।

मनरेगा और ग्रामीण सामुदायिक जीवन

मनरेगा ने ग्रामीण समुदायों में सामूहिक कार्य संस्कृति को भी बढ़ावा दिया। तालाब निर्माण, सड़क निर्माण और जल संरक्षण जैसे कार्यों में सामूहिक श्रम की भावना विकसित हुई। ग्रामीण समाज में पहले विकास कार्यों में आम लोगों की भागीदारी सीमित थी, लेकिन मनरेगा ने पंचायतों और ग्राम सभाओं की भूमिका को बढ़ाया। इससे लोकतांत्रिक सहभागिता मजबूत हुई।

ग्राम सभाओं में कार्यों के चयन और निगरानी की प्रक्रिया ने ग्रामीण लोगों को स्थानीय शासन से जोड़ने का कार्य किया। इससे ग्रामीण लोकतंत्र को मजबूती मिली।

मनरेगा और ग्रामीण अर्थव्यवस्था का पुनर्गठन

मनरेगा ने ग्रामीण अर्थव्यवस्था में नकदी प्रवाह बढ़ाया। मजदूरों को नियमित मजदूरी मिलने से स्थानीय बाजारों में खरीदारी बढ़ी। इससे छोटे दुकानदारों, सब्जी विक्रेताओं और ग्रामीण व्यापारियों को लाभ हुआ। यह "स्थानीय आर्थिक पुनर्जीवन" (Local Economic Revitalization) का उदाहरण है। ग्रामीण गरीबों की क्रय शक्ति बढ़ने से गाँवों में आर्थिक गतिविधियाँ सक्रिय हुई।

इसके अतिरिक्त, मनरेगा के तहत निर्मित तालाब, सड़क और सिंचाई परियोजनाओं ने कृषि उत्पादन में भी योगदान दिया। इससे ग्रामीण जीवन की आर्थिक संरचना में सकारात्मक बदलाव आया।

मनरेगा की सीमाएँ और चुनौतियाँ

यद्यपि मनरेगा ने ग्रामीण गरीबों के जीवन में व्यापक सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन उत्पन्न किए हैं, फिर भी इसके क्रियान्वयन में अनेक समस्याएँ मौजूद हैं, जो इसके वास्तविक उद्देश्यों को पूर्ण रूप से प्राप्त करने में बाधा उत्पन्न करती हैं। समाजशास्त्रीय दृष्टि से देखा जाए तो किसी भी कल्याणकारी योजना की सफलता केवल उसके प्रावधानों पर निर्भर नहीं करती, बल्कि इस बात पर भी निर्भर करती है कि स्थानीय सत्ता संरचना, प्रशासनिक व्यवस्था और सामाजिक जागरूकता उस योजना को किस प्रकार प्रभावित करती है। बिहार जैसे राज्य में, जहाँ ग्रामीण समाज अभी भी जाति, वर्ग और संसाधनों की असमानता से प्रभावित है, वहाँ मनरेगा के क्रियान्वयन में कई स्तरों पर चुनौतियाँ दिखाई देती हैं।

भ्रष्टाचार और प्रशासनिक अनियमितता

मनरेगा की सबसे बड़ी चुनौतियों में भ्रष्टाचार और प्रशासनिक अनियमितता प्रमुख है। कई ग्रामीण क्षेत्रों में योजना का लाभ वास्तविक मजदूरों तक पूरी तरह नहीं पहुँच पाता। पंचायत स्तर पर फर्जी जॉब कार्ड बनाना, मृत व्यक्तियों के नाम पर भुगतान दिखाना, मशीनों से कार्य कराकर मजदूरों की उपस्थिति दर्ज करना तथा मजदूरी राशि में कटौती जैसी समस्याएँ सामने आती रही हैं।

यह समस्या ग्रामीण सत्ता संरचना से जुड़ी हुई है। गाँवों में प्रभावशाली वर्ग, स्थानीय प्रतिनिधि और कुछ प्रशासनिक अधिकारी कई बार योजना पर नियंत्रण बनाए रखते हैं। गरीब और अशिक्षित मजदूर इन अनियमितताओं का विरोध नहीं कर पाते क्योंकि वे सामाजिक और आर्थिक रूप से कमजोर स्थिति में होते हैं।

कई बार मजदूरों से खाली कागज पर हस्ताक्षर या अंगूठा लगवा लिया जाता है और वास्तविक मजदूरी से कम भुगतान किया जाता है। इससे योजना का लाभ मध्यस्थों और स्थानीय प्रभावशाली लोगों तक सीमित रह जाता है। सामाजिक अंकेक्षण (Social Audit) की व्यवस्था होने के बावजूद कई क्षेत्रों में यह प्रक्रिया प्रभावी ढंग से लागू नहीं हो पाती।

यह स्थिति समाजशास्त्री मैक्स वेबर की नौकरशाही संबंधी अवधारणा को भी स्पष्ट करती है, जहाँ प्रशासनिक व्यवस्था कई बार जनता की सेवा के बजाय नियंत्रण और औपचारिकता तक सीमित हो जाती है। यदि प्रशासनिक पारदर्शिता और जवाबदेही मजबूत न हो, तो कल्याणकारी योजनाओं का वास्तविक लाभ गरीबों तक नहीं पहुँच पाता।

मजदूरी भुगतान में देरी और आर्थिक असुरक्षा

मनरेगा का उद्देश्य ग्रामीण गरीबों को आर्थिक सुरक्षा प्रदान करना है, लेकिन मजदूरी भुगतान में देरी इस योजना की एक गंभीर समस्या रही है। कई मजदूरों को कार्य पूरा करने के बाद भी कई सप्ताह या महीनों तक भुगतान नहीं मिल पाता।

ग्रामीण गरीब परिवार दैनिक आय पर निर्भर होते हैं। उनके पास बचत या वैकल्पिक आय के साधन सीमित होते हैं। ऐसी स्थिति में मजदूरी में देरी उनके जीवन को सीधे प्रभावित करती है। कई परिवारों को भोजन, दवा और बच्चों की शिक्षा के लिए कर्ज लेना पड़ता है। इससे वे पुनः साहूकारों और महाजनों पर निर्भर हो जाते हैं।

यह आर्थिक असुरक्षा ग्रामीण गरीबों में अस्थिरता और तनाव को बढ़ाती है। जब मजदूरों को समय पर मेहनताना नहीं मिलता, तो उनके भीतर व्यवस्था के प्रति अविश्वास पैदा होता है। इससे योजना के प्रति उनकी भागीदारी और विश्वास दोनों प्रभावित होते हैं । डिजिटल भुगतान प्रणाली लागू होने के बाद पारदर्शिता बढ़ाने का प्रयास किया गया, लेकिन बिहार के कई ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाओं की कमी, तकनीकी समस्याएँ और डिजिटल अशिक्षा नई चुनौतियों के रूप में सामने आई। कई मजदूरों को बैंक तक पहुँचने में लंबी दूरी तय करनी पड़ती है। बैंक खातों में तकनीकी त्रुटियाँ और आधार लिंकिंग की समस्याएँ भी मजदूरी भुगतान में बाधा उत्पन्न करती हैं।

समुहिकता का आभाव

मनरेगा अधिकार आधारित योजना है, लेकिन ग्रामीण मजदूरों में इसके अधिकारों और प्रक्रियाओं के प्रति पर्याप्त जागरूकता नहीं है। कई मजदूर यह नहीं जानते कि उन्हें रोजगार मांगने का अधिकार है, समय पर काम नहीं मिलने पर बेरोजगारी भत्ता मिल सकता है, या मजदूरी में देरी होने पर शिकायत दर्ज कराई जा सकती है।

ग्रामीण बिहार में अशिक्षा और सूचना की कमी के कारण गरीब वर्ग प्रायः सरकारी योजनाओं की पूरी जानकारी से वंचित रह जाता है। इसका लाभ स्थानीय बिचौलिये और प्रभावशाली लोग उठाते हैं। कई मजदूरों को योजना की शर्तों और मजदूरी दरों की सही जानकारी तक नहीं होती।

समाजशास्त्रीय दृष्टि से यह "सूचनात्मक असमानता" (Informational Inequality) का उदाहरण है। समाज में जो वर्ग शिक्षित और संसाधन संपन्न होता है, वही सरकारी योजनाओं का अधिक लाभ उठा पाता है। इसके विपरीत, गरीब और कमजोर वर्ग सूचना के अभाव में शोषण का शिकार होते हैं। महिलाओं और दलित मजदूरों में जागरूकता की कमी अधिक दिखाई देती है। कई महिलाएँ अपने बैंक खाते, मजदूरी भुगतान और कार्य संबंधी प्रक्रियाओं के बारे में पूरी जानकारी नहीं रखतीं। इससे उनकी आर्थिक निर्भरता पूरी तरह समाप्त नहीं हो पाती।

सीमित रोजगार दिवस और अधूरी रोजगार गारंटी

मनरेगा के अंतर्गत प्रत्येक ग्रामीण परिवार को 100 दिनों के रोजगार की कानूनी गारंटी दी गई है, लेकिन व्यवहारिक स्तर पर अधिकांश परिवारों को पूरे 100 दिन काम नहीं मिल पाता। बिहार के कई जिलों में औसतन 40 से 60 दिनों तक ही रोजगार उपलब्ध हो पाता है।

इसका प्रमुख कारण प्रशासनिक उदासीनता, सीमित बजट और कार्यों की कमी है। कई पंचायतों में समय पर परियोजनाएँ स्वीकृत नहीं होतीं, जिससे मजदूरों को नियमित कार्य नहीं मिल पाता। यह स्थिति ग्रामीण गरीबों की "अधूरी सुरक्षा" को दर्शाती है। मनरेगा ने रोजगार की संभावना तो उत्पन्न की, लेकिन वह अभी भी ग्रामीण परिवारों के लिए स्थायी आर्थिक आधार नहीं बन पाया है। ग्रामीण परिवारों की आवश्यकताएँ केवल कुछ महीनों की मजदूरी से पूरी नहीं होतीं। वर्ष भर आजीविका बनाए रखने के लिए उन्हें कृषि, पशुपालन या अन्य अस्थायी कार्यों पर निर्भर रहना पड़ता है। यही कारण है कि पलायन की समस्या अभी भी पूरी तरह समाप्त नहीं हो सकी है।

समाजशास्त्रीय दृष्टि से Mahatma Gandhi National Rural Employment Guarantee Act को केवल रोजगार योजना के रूप में नहीं देखा जा सकता, बल्कि यह ग्रामीण समाज में सामाजिक परिवर्तन लाने वाली महत्वपूर्ण योजना है। इसने ग्रामीण गरीबों में "अधिकार चेतना" विकसित की है, जिससे वे रोजगार को सरकारी दया नहीं, बल्कि अपना अधिकार मानने लगे हैं। इससे ग्रामीण लोकतंत्र और राजनीतिक जागरूकता को मजबूती मिली है।

मनरेगा ने ग्रामीण मजदूरों की बड़े किसानों और जमींदारों पर निर्भरता कम की है। वैकल्पिक रोजगार मिलने से मजदूरों की सौदेबाजी शक्ति बढ़ी तथा ग्रामीण श्रम संबंधों में परिवर्तन आया। महिलाओं को मजदूरी कार्यों में भागीदारी और स्वयं आय अर्जित करने का अवसर मिला, जिससे उनकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति मजबूत हुई।

दलित और महादलित समुदायों के लिए भी मनरेगा सामाजिक समावेशन का माध्यम बना। विभिन्न जातियों के लोगों के साथ काम करने से सामाजिक दूरी कम हुई और सहभागिता बढ़ी। ग्राम सभा, सामाजिक अंकेक्षण तथा पंचायत आधारित कार्य प्रणाली ने ग्रामीण लोगों को स्थानीय शासन से जोड़कर लोकतांत्रिक भागीदारी को मजबूत किया। भ्रष्टाचार, मजदूरी भुगतान में देरी और सीमित रोजगार दिवस जैसी समस्याएँ अभी भी मौजूद हैं, फिर भी मनरेगा ने ग्रामीण गरीबों को सामाजिक सुरक्षा, सम्मान और आर्थिक स्थिरता प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

निष्कर्ष - अंत में कहा जा सकता है कि मनरेगा ने बिहार के ग्रामीण समाज में आर्थिक और सामाजिक दोनों स्तरों पर महत्वपूर्ण परिवर्तन उत्पन्न किए हैं। यह योजना केवल मजदूरी प्रदान करने तक सीमित नहीं रही, बल्कि इसने ग्रामीण गरीबों को आत्मनिर्भरता, सामाजिक

सम्मान और अधिकार आधारित सुरक्षा प्रदान की है। महिलाओं, दलितों, भूमिहीन मजदूरों और कमजोर वर्गों की भागीदारी ने ग्रामीण समाज में सामाजिक समावेशन को मजबूत किया है। ग्रामीण अवसंरचना के विकास, पलायन में कमी और स्थानीय रोजगार सृजन के माध्यम से मनरेगा ने ग्रामीण अर्थव्यवस्था को नई दिशा दी है।

समाजशास्त्रीय दृष्टि से मनरेगा ग्रामीण शक्ति संरचना में बदलाव, लोकतांत्रिक भागीदारी और सामाजिक न्याय की प्रक्रिया को मजबूत करने वाली योजना सिद्ध हुई है। हालाँकि भ्रष्टाचार, प्रशासनिक कमजोरी और सीमित रोजगार दिवस जैसी चुनौतियाँ अभी भी मौजूद हैं, लेकिन उचित निगरानी और जनभागीदारी के माध्यम से इन समस्याओं को कम किया जा सकता है।

संदर्भ सूची

1. सिंह, योगेन्द्र — *भारतीय समाज में सामाजिक परिवर्तन*, रावत पब्लिकेशन, जयपुर।
2. दुबे, श्यामाचरण — *भारतीय ग्राम*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
3. देसाई, ए.आर. — *ग्रामीण समाजशास्त्र*, पॉपुलर प्रकाशन, मुंबई।
4. लुईस, ऑस्कर — *गरीबी की संस्कृति* (Culture of Poverty), ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
5. सेन, अमर्त्य — *विकास और स्वतंत्रता* (Development as Freedom), ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।
6. भारत सरकार, ग्रामीण विकास मंत्रालय — *महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम : वार्षिक रिपोर्ट*, नई दिल्ली।
7. बिहार सरकार, ग्रामीण विकास विभाग — *बिहार में मनरेगा की प्रगति रिपोर्ट*, पटना।
8. कुमार, धर्मेन्द्र — "बिहार में मनरेगा और ग्रामीण विकास", *समाजशास्त्रीय अध्ययन पत्रिका*, अंक 12, 2022।
9. शर्मा, आर.एन. — *भारतीय ग्रामीण समाजशास्त्र*, अटलांटिक पब्लिशर्स, नई दिल्ली।
10. चौधरी, सुनीता — "महिलाओं के सशक्तिकरण में मनरेगा की भूमिका", *भारतीय सामाजिक विज्ञान समीक्षा*, 2021।
11. झा, मिथिलेश कुमार — "ग्रामीण पलायन और मनरेगा : बिहार का अध्ययन", *आर्थिक एवं राजनीतिक साप्ताहिक*, 2020।
12. ओमवेट, गेल — *दलित और लोकतांत्रिक आंदोलन*, सेज प्रकाशन, नई दिल्ली।
13. वेबर, मैक्स — *सामाजिक क्रिया और नौकरशाही सिद्धांत*, सेज पब्लिकेशन।
14. राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन (एन.एस.एस.ओ.) — *ग्रामीण रोजगार एवं बेरोजगारी रिपोर्ट*, भारत सरकार।
15. नीति आयोग — *भारत में बहुआयामी गरीबी सूचकांक रिपोर्ट*, नई दिल्ली।
16. विश्व बैंक रिपोर्ट — *ग्रामीण रोजगार और सामाजिक सुरक्षा योजनाएँ : भारत का अनुभव*, वाशिंगटन डी.सी.

सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा का संवेदनात्मक अध्ययन

अमित कुमार*

शोध–सार

शिकंजा एक बन्धन उपकरण है, जिसका उपयोग वस्तुओं को एक साथ कसकर पकड़ने या सुरक्षित करने के लिए किया जाता है। 'शिकंजे का दर्द' का प्रकाशन सन् 2011 में वाणी प्रकाशन से प्रकाशित हुआ। अपनी आत्मकथा में लेखिका ने दलित समाज का दर्द, पुरूष प्रधान समाज में दलित नारी किस प्रकार संघर्ष करके इस समाज के नियमों को तोड़ना चाहती है, इसमें एक ओर दलित होने का संताप व्यक्त किया गया तो दूसरी ओर स्त्री होने का संताप भी व्यक्त है। एक दलित नारी को समाज में कौन–कौन से शिकंजों में कैद रहना पड़ता है उसका मार्मिक चित्रण इस आत्मकथा में किया गया है। 'शिकंजे का दर्द' आत्मकथा को हम दलित एवं नारी व्यथा की कथा कह सकते हैं। इसमें स्वयं के साथ हुए अपमान, तिरस्कार, उपेक्षा का वर्णन तो है ही साथ ही समाज में सम्मान पाने के लिए जो संघर्ष है उसका भी वर्णन हुआ है।

बीज शब्दः– शिंकजा, दलित, पुरूष प्रधान, आत्मकथा, तिरस्कार, उपेक्षा।

परिचयः

आत्मकथा का शाब्दिक अर्थ ही है– अपनी कहानी या अपने जीवन की कहानी। वस्तुतः सचबयानी के माध्यम से लेखक द्वारा स्वयं की प्रस्तुत कथा आत्मकथा है। संस्कृत–साहित्य में भी कहा गया है– ''आत्मनः विषये कथ्यते आत्मकथा'' अर्थात् जहाँ अपने ही विषय में बात कही जाये, वही आत्मकथा है। एक आत्मकथा को चार बहुत व्यापक प्रकारों में से एक में रखा जा सकता है। विषयगत, धार्मिक, बौद्धिक और काल्पनिक।

मुख्य भाग

दलित साहित्यकारों में प्रमुख स्थान प्राप्त करने वाली डॉ. सुशीला टॉकभौरे की आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' हिंदी की दलित महिला की आत्मकथा है, जो दलित साहित्य के रूप में वर्णव्यवस्था की अमानवीयता को उजागर करने का संकल्प लेकर लिखी गई है। दलित लेखिका की आत्मकथा दुहरी व्यवस्था का वहन करती है– एक दलित की वेदना, दूसरी नारी जीवन की वेदना। इस आत्मकथा में लेखिका सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक उत्पीड़न के विभिन्न असहनीय पहलुओं को हमारे सामने रखती है। लेखिका का जीवन और व्यक्तित्व का विकास अवरूद्ध होता रहा। कठिन श्रम, कष्ट, अभाव और जातिभेद की पीड़ा से जकड़े जीवन का बचपन कुछ और याद नहीं कर पाता। लेखिका का सामाजिक जीवन मनुवादी विचारों में वर्णवादी, जातिवादी, समाज व्यवस्था ने शिकंजे में जकड़कर रखा, जिसका परिणाम पीड़ा, दर्द छटपटाहट के सिवा कुछ नहीं था। एक स्त्री की आत्मकथा मनुवाद द्वारा निर्मित पुरूष सत्ता प्रधान समाज रचना के कारण स्त्री शोषण को उजागर करती है। जैसे 'स्त्री' धरती है। वह सहन करती है, फिर भी धीरज रखती है और अपनी धुरी पर घूमती रहती है। आदर्शों के नाम पर स्त्री शोषण किया जाता है। अपने अधिकारों की बात करने वाली स्त्रियों को समाज अच्छा नहीं कहता है। समाज की कम मान्यता रही है स्त्री देवी है या कुलच्छनी है। उसे मानव कभी माना ही नहीं गया। जैसे वह हाड़ मांस की जीवित मानव नहीं आदर्शों की पुतली है जो आदर्शों के लिए जीती है और आदर्शों के लिए मर जाती है। वह समाज से अपने सुख–दुख का हिसाब तक नहीं मांगती।

'शिकंजे का दर्द' में तीसरा संताप है। पहला दलित स्त्री होने का, दूसरा स्त्री होने का, तीसरा अभावग्रस्त दलित जीवन की व्यथा जीने वाली स्त्री का स्त्री होना ही जैसे संताप की बात है। चाहे हमारा देश हो या विश्व का अन्य देश, हर जगर शोषण, उत्पीड़न का शिकार स्त्री रही है। सदियों से अभावग्रस्त परिस्थितियों में रहने के लिए मजबूर किए गए दलित जीवन की कथा 'शिकंजे का दर्द' में दर्ज की गई हैं। सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' में पारम्परिक सवालों के साथ दलित पुरूष को कठघरे में

* शोधार्थी, विश्वविद्यालय हिन्दी–विभाग, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर
ईमेल– amitmanohar221297@gmail.com, मो. 9576218502

खड़ा करने में किसी तरह की कोताही नहीं बरती गई है। दलित पुरूष जो मंच पर स्त्री के अन्याय एवं भेदभाव के खिलाफ आवाज उठाता है, वह अपने घर में स्त्री के साथ भेदभाव करता है शिक्षा पाने के लिए आत्मकथाकार का अनवरत संघर्ष, लगन और जिद अनुकरणीय है। लेकिन वह चाहते हुए भी अपने पति के शिकंजे से मुक्त नहीं हो पाती है। यह आत्मकथा पुरूषसत्ता पर सवाल खड़ा करती है।

इसमें भेदभाव, छूआछूत और शोषण के कई रूप दर्शाए गए हैं। आत्मकथाकार के साथ छूआछूत और शोषण के कई रूप दर्शाए गए है। आत्मकथाकार के साथ छूआछूत का पहला वाक्य स्कूल में प्रवेश के साथ ही हुआ है।

हिन्दू व्यवस्था के किले की बेहद मजबूत दीवार है– जाति। जाति और धर्म का बन्धन ऐसी डोर से जकड़ा गया है, जो दिखाई नहीं देती, पर कोई भी आसानी से इस बन्धन से मुक्त नहीं हो पाता। जाति के बिना समाज नहीं हो सकता, जाति के बिना इंसान नहीं हो सकता, जाति की जानकारी के बिना सामाजिक व्यवहार नहीं हो सकता। भारत गांवों का देश है, किंतु देश की आत्मा कहे जाने वाले गांवों में दलितों के लिए क्या है? वर्ण भेद? जातिभेद?

''गांवों में वर्णभेद, जातिभेद की सारी बुराईयाँ बसती थी। अछूत माने गए जाति समुदाय के लोग समाज व्यवस्था के नियम से गांव के बाहर बसाये जाते थे। गांव से मिली जूठन, रोटी, अनाज और उतरन के कपड़ों से उनका जीवन चलता था।''[1]

स्कूली वातावरण का चित्रण करती हुई सुशीला ने अपने दसवीं कक्षा के अतीत को लिखती हैं– ''वे मुझे हमेशा कामुक दृष्टि से देखते थे कि लड़कियों से मीठी–मीठी बातें करते मगर अछूत लड़कों की जमकर पिटाई करते थे, जरा सी बात पर कुटिल मुस्कान के साथ, उनके कान उमेठक उन्हें रूई जैसे धुनते थे। मैं उनसे डरती थी। लगातार डरते रहने से डरने की आदत बन गई थी। जातिवाद मानने वालों से अधिकतर उपेक्षा और अपमान के दंश ही मिलते रहे। उनके अत्याचार से हम भयभीत रहते थे।''[2]

भारतीय समाज का कोई ऐसा अंग या पक्ष नही है, जिसमें जातिभेद का विकार न हो। यहाँ तक कि भीख मांगने वाले भिखरी में भी इस प्रकार की भावना को आत्मकथा में लेखिका ने लिखा हैं अछूत या दलित वर्गों के यहाँ भीख मांगना स्वीकार नहीं हैं।

''बरामदे से मैंने देखा और सुना पड़ोसन भिखारी से हमारे घर की ओर इशारा करके कह रही थी – 'महाराज जी, इस घर की भिक्षा नहीं लेना। यहां जमादारन रहती है।' भिखारी ने झूमते हुए सिर हिला कर कहा– अच्छा हुआ माताजी आपने बता दिया। मैं भला उनके घर का आटा कैसे ले सकता हूँ।''[3]

भिखारी चला गया। पड़ोसन महिला भी घर के अंदर चली गई मगर लेखिका वहीं बरामदे में खड़ी इस बात पर सोचती रही– जाति ऐसी चीज है, जो कोई जाती नहीं है। जाति व्यवस्था जनमानस में बहुत गहराई तक अपनी जड़े जमाकर बैठी है। इंसान के जीवन में जैसे जाति ही सब कुछ है, बाकी और कुछ नहीं। सुशीला जी ने स्वयं यह देखा पड़ोसन और भिखारी के बीच का संवाद उनका मन कसैला (कठोर, तीखा) हो गया। उन दोनों के जाने के बाद बहुत समय तक बरामदे में खड़ी यह सोचती रही।

'शिकंजे के दर्द' की पीड़ा मनुवादी पुरूषसत्ता प्रधान समाज की देन है। एक जो सबसे बड़ी समस्या स्त्री त्रासदी की थी बेमेल विवाह की। इस त्रासदी से बहुत महिलाओं का जीवन नर्क बन रहा है। बेमेल विवाह को आजीवन सहन करना इनकी नियति बन गयी। सुशीला टाकभौरे भी अपने से बहुत अधिक उम्र के पति से विवाह का विरोध नहीं कर पायी। जब उनका रिश्ता तय हुआ था, तो सुंदरलाल टाकभौरे सुशीला से मिले। सुशीला की उम्र उस समय बीस वर्ष से भी कम थी। वे लिखती हैं– ''मीराबाई मुझे इनके पास छोड़ कर चली गई। मैं नीचे नजर करके खड़ी थी। उन्होंने पूछा आपको शादी की यह बात पसंद है न? बाद में नही करना कि पसंद नही है। मैं क्या कहती? चुप रही। इनसे बात करते समय ऐसा लग रहा था कि मैं हाई स्कूल के किसी शिक्षक से बात कर रही हूँ। जैसे श्रद्धा मैं अपने शिक्षकों के प्रति रखती थी वैसी ही श्रद्धा भाव से मैंने टाकभौरे जी को देखा।''[4]

एक स्त्री जब अपने पति को शिक्षक या और किसी व्यक्ति के रूप में अपने पति को देखती है तो वह जीवन पत्नी में उस प्यार और अधिकार से वंचित रह जाती है जो समान उम्र के पति पत्नी में प्रेम पनपता है। बचपन से ही पिता, बड़े भाई, चाचा, मामा सभी को सम्मान की दृष्टि से देखते हुए उनके आदेशों का पालन किया। अब पति भी उसी पंक्ति में खड़ा है। श्रद्धाभाव बहुत गहरी बात की ओर सुशीला जी ने संकेत किया है। एक स्त्री के मनोभाव को वे बड़े ही सूक्ष्म ढंग से प्रस्तुत करती है। वे खुद उन स्थितियों में रही और तमाम महिलाओं के दर्द को समझती है।

सुशीला जी एक जगह कहती हैं– ''टाकभौरे जी में बड़प्पन की भावना बहुत थी। बहुत लाड–प्यार से पले इकलौते बेटे थे। वे घर में मेरे साथ तानाशाही भावना से व्यवहार करते हुए कहते थे– 'मुझे बहुत गुस्सा आता है, गुस्से में मैं कुछ भी कर सकता हूँ। मैं चुपचाप उनकी बातें सुनती थी। दूसरे के सामने मेरे साथ सम्मानपूर्ण व्यवहार करते, मगर घर में अपनी माँ–बहन के सामने हमेशा डॉट–फटकार, व्यंग्य कटाक्ष करते, आतंकपूर्ण व्यवहार बनाकर रखते। ऐसा करके वे अधिक बड़प्पन महसूस करते हैं।''[5]

'शिकंजे का दर्द' में लेखिका ने अपने दलित समाज की व्याप्त अंधविश्वास की समस्या को भी व्यक्त किया है। जादू टोना, शकुन–अपशकुन, मुहूर्त, मणि, ताबीज आदि सामान्य से सामान्य व्यक्ति के साथ उच्च वर्ग में भी यह प्रचलित है। पढ़े लिखे लोगों से लेकर अनपढ़ लोगों में भी इसकी (अंधविश्वास की) पैठ है। यहां गौर करने की जो बात है वह यह कि हर तबका इसे मानता है पर अधिक शिकार छोटी–छोटी जातियाँ होती हैं। दलित परिवारों में भी अंधविश्वास देखे जाते है। न जाने कितने अंधविश्वासों के मकड़जाल में फंसे पड़े हैं, शिकार होती है स्त्रियाँ और छोटे–छोटे बच्चे। कभी किसी स्त्री को बच्चा नहीं होता तो लोग कहते हैं उसका केवल बांध दिया गया है। छोटे बच्चों की बलि की परंपरा, मुर्गा, बकरे की बलि देने का रिवाज का बहुत प्रचल था। इससे लेखिका का जीवन भी प्रभावित रहा। अंधविश्वासी लोग हर तबके में आसानी से मिल जाते हैं। चाहे पढ़े–लिखे हो या अनपढ़। डॉक्टर के इलाज के स्थान पर ओसाई करते है। भगवान के नाम पर दवा नही करवाते हैं, कुलदेवी कुलदेवता नाराज हो जायेंगे इसलिए डॉक्टर के पास नहीं जाते। तमाम ऐसी छोटी–छोटी बातें सदियों से चली आ रही हैं लेकिन उन्हें इन बातों का कोई खास समझ नहीं हैं। उन्हें समझना भी नहीं होता। अंधविश्वास के चलते न जाने कितनी जाने जाती है। लेखिका इस समस्या की ओर संकेत करती है। उन्होंने यह जीवन जिया है और भोगा है। लेखिका आत्मकथा में ऐसे उदाहरण को लिखकर समाज की विद्रूपता सबके समक्ष लाने का प्रयत्न करती है। इन्होंने आत्मकथा में लिखा है उनकी ननद हमेशा उन्हें डराती है वह देवी की सवारी की तरह झूमते हुए अक्सर कहती थी– ''ऐ तुम मुझे भूल गए? देखो, यदि अच्छे रहना है तो मीरा तो नाराज नहीं करना। मैं मीरा के साथ हूँ। मैं दुर्गा हूँ, मैं काली हूँ, मैं भवानी हूँ, समझे मीरा को भूलना नहीं।''[6]

ननद इस बात से डराया करती थी लेकिन लेखिका इस बात पर विश्वास नही करती थी। वह बद्दुआ देती थी। वे जानती थी शिक्षा के अभाव में अच्छी बातें सोच नहीं पाते हैं। परिस्थितियों का दोष था। लेखिका ने बचपन में सबसे सुन रखा था। रेलवे लाइन का सात मोरी का पुल बनाया गया। लोग अपने छोटे बच्चों को घर में छिपा कर रखते थे, अकेले कहीं बाहर नहीं जाने देते थे। औरते रहस्य बताने के धीरे से कहती– ''सात मोरी के पुल में जिंदे बच्चों को डाल देते है, बच्चों को बलि देने के बाद ही पुल बनते हैं, नहीं तो बनते बनते टूट जाते हैं।''[7]

लेखिका स्वयं एक स्त्री है इसलिए आत्मकथा में उनकी स्वानुभूति की पीड़ा दर्ज हुई है। इतनी विषमता, इतनी पीड़ा के बीच अपने जीवन से अपने अधिकार को लेकर संजिदा रहना अपने आप में एक गर्व की बात है। अपनी आत्मकथा में सुशीला जी लिखती है– ''मैंने अपने जीवन में अनेक समस्याओं का सामना किया है। पुरूषों की अपेक्षा नारी अपने जीवन में अधिक समस्याओं का सामना करती है। इन समस्याओं से डटकर यदि वह प्रगति पथ से पीछे हटेगी, तो सफलता प्राप्त नहीं कर सकेगी। जीवन को संघर्ष मानकर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ना ही जीवन में विजयी होना है। नारी किसी भी जाति धर्म की हो, वह कष्टों से घिरी होता है। संघर्ष से ही वह जीवन में सुख और सम्मान पाती है।''[8]

नारी चेतना का सवाल उनके मन में पहले–पहले बाल्यकाल में ही तब उठता है, जब वह अपनी माँ और पिताजी को अपने या किसी दूसरी बहन के पिता या अम्मा के नाम से पुकारते या संबोधन करते हुए नहीं पाती है। लेखिका सोचती है– ''पिताजी मां को बुलाने के लिए नाम न लेकर, कमल की मां और कल्लू की मां कहकर बुलाते थे। मां भी उन्हें नाम से न पुकार कर, कल्लू के बप्पा या कमल के बप्पा कहती थी। इसे सामाजिक मर्यादा के रूप में निभाया जाता था। मैं अक्सर सोचती थी, वे शीला की मां और शीला के बप्पा क्यों नहीं कहते? क्या मैं उनके लिए परायी थी।''[9]

इतनी बड़ी बात बाल्यकाल में ही लेखिका के समझ में आई, स्त्री के अस्तित्व को एक तरफ नकारना अनेक प्रश्न को जन्म देता है। उन्होंन अस्तित्व के प्रश्न को खोजकर उसे समाज में नाम के साथ सम्मान दिलाने और सम्मान पाने का पूर्ण संघर्ष किया है।

''तेरा मुँह गंदगी का गटर है जब भी मुँह खोलती है, गटर की गंदगी उगलती है।''[10] पति द्वारा अक्सर इसी तरह का अपमान, उत्पीड़न किया जाता था। तब वे इस बात को समझ नहीं पाती थी कि

आखिर उनके साथ इस तरह का व्यवहार क्यों किया जाता है। बार–बार सोचती है और विचार करती है जीवन में आई समस्या को यदि ऐसे का ऐसे ओढ़ लिया जाए तो वह उसी ढर्रे पर चलता है। आने वाली पीढ़ी भी इस तरह आतंकित डरी, सहमी सामाजिक पुरूष वर्चस्व की अधीनता स्वीकारने को मजबूर रहेगी। यह सोच सुशीला टाकभौरे ने अपनी लेखनी के माध्यम से आत्मकथा में लिखा है। सुशीला टाकभौरे ने बहुत सहन किया। सुशीला जी का विवाह सुंदरलाल टाकभौरे से हुआ। अपने दामपत्य जीवन में उन्हें, बड़ी ही यातनाएँ सहनी पड़ी। विवाह के उपरांत तक क्या कुछ नहीं गुजरा उनके जीवन में वे सोचती है, बुद्ध ने कहा है कि क्षण–क्षण परिवर्तनशील है। इस बात को वे अपने जीवन में उतारने का प्रयास भी करती हैं वे सोचती हैं कि बहुत सहन किया, लेकिन अब इसके आगे वह अपना अपमान और उत्पीड़न नहीं होने देंगी इसीलिए वे लिखती हैं– ''जब मुझमें साहस आ गया था। मैं अपना चेकबुक और पासबुक अपने पास रखने लगी थी। तनख्वाह आ जाने के बाद किसी दिन बैंक जाकर रूपए निकाल लेती। रूपए लाकर बैग में या अलमारी में गुस्से से पटक देते। झगड़े भी होते थे, वे गुस्से में कहते थे– तू मुझे समझती क्या है? तेरी हिम्मत कैसे हुई रूपये लाकर नहीं बताने की? तू अपने आप को समझती क्या है?''[11]

दलित, साहित्य का मुख्य स्वर रहा है– प्रतिरोध। दलित सौन्दर्यशास्त्र में यह प्रमुखता से स्वीकारा गया है। बचपन में बालिका सुशीला प्रतिरोध नहीं कर पाई, यहाँ तक कि उनके घर वाले, पिता, माँ और नानी में यह बात देखी जा सकती है। छुआछूत करने वालों पर माँ गुस्सा करती थी। जब पिताजी शराब पीकर आते तो गांव के बामन, बनियों को जमकर गरियाते– ''इन सालों ने ही हमको छोटा बनाकर रखा है, उन्होंने ही हमको अछूत और लाचार बनाकर रखा है। ये साले हमको आगे नहीं बढ़ने देते है।''[12]

स्त्री सर्वप्रथम स्त्री होने के कारण शोषित होती हैं। इसके साथ ही दलित स्त्री होने के कारण दोहरे रूप में शोषण पीड़ा पर संताप भोगती है। नारी गाँव के गैर दलित जमींदार मुखिया प्रधान और सरपंच आदि की गिद्ध दृष्टि मात्र ही नहीं रहती, बल्कि शहरों कस्बों के लाला और सेठों की कुदृष्टि से भी दलित नारी ठगी जाती रही है। अब वह अपनी वेदना और व्यथा को स्पष्ट करना चाहती है। कल की दलित स्त्री मौन थी। वेदना, अन्याय, अत्याचार सहती रहती थी। आज वह स्त्री डॉ. अम्बेडकर के विचारों को आगे लेकर चल रही है। दलित स्त्री का दुःख चक्रव्यूह जैसा है। इसके पीछे हजारों वर्ष की पम्परा है। अब दलित स्त्री इस परम्परा को नकारती है। समाज में स्त्रियों के अधिकारों का उसी हद तक समर्थन किया, जहाँ तक पुरूष वर्चस्व पर आच न आये। दलित पुरूष जो साहित्य में नारी का चित्रण करता है, तो वह अपनी आशा व निराशा के रूप में मानसिक शोषण की अपेक्षा उनके शारीरिक शोषण का चित्रण अधिक करता है। अधिकतर दलित महिलायें सवर्ण अत्याचारियों का मुकाबला डट कर करती है। मगर वे भी अपने वर्ग के पुरूषों द्वारा शोषित पीड़ित रहने के लिए मजबूर रहती है। पुरूषों को हमेशा यह लगता है कि वे रोटी कपड़ देकर ही स्त्री का भला करते है या उसका उद्धार करते हैं। इस रोटी कपड़ा के अलावा स्त्रियों को आत्म सम्मान की आवश्यकता है।

दलित महिला दलितों में भी दलित मानी गयी है। इसके लिये हमारी सामाजिक व्यवस्था और पुरूष प्रधान समाज जिम्मेदार है। दलित महिला के जीवन का जितना कटु ठोस एवं यथार्थ अनुभव खुद दलित महिला के पास होगा। उतना किसी गैर दलित महिला के पास नहीं हो सकता। आज तक स्त्रीवादी आंदोलन और उससे जुड़ी संस्थाओं का नेतृत्व स्वर्ण स्त्रियों के हाथ में रहा है। इसलिये वहाँ दलित स्त्री की मुक्ति के मुद्दे केन्द्र में नही है। इसलिये दलित स्त्री को आज वो सम्मान नहीं मिला, जो मिलना चाहिए।

'शिकंजे का दर्द' सुशीला जी की आत्मकथा में इन्होंने दलित स्त्री जीवन के संघर्ष शोषण तथा उनकी मार्मिक संवेदनाओं को उजागर कर समाज में दलित स्त्रियों के जीवन प्रस्तुत किया है। दलित महिलाओं की हालात किसी से भी छुपे नहीं है। भारत में दलितों को बहुत चौकन्ना होकर अपना जीवन जीना पड़ता है। दलित स्त्री की वेदना के बारे में सुशीला टाकभौरे जी कहती है कि ''मैं स्वयं एक दलित स्त्री हूँ। मैंने अपने जीवन में दलित होने का संतान भोगा है, स्त्री होने की पीड़ा को भी सहा है, इसलिए मैं अपनी उन सभी बहनों की पीड़ा और वेदना को जानती हैं।''[13]

निष्कर्षः–

सुशीला जी न केवल अपने आपको ऊपर उठाती है अपितु दलित समाज को भी ऊपर उठाने में योगदान देती हैं। उन्होंने अपनी बेटियों को शादी बिना दहेज के करना और अन्तरजातीय विवाह करना जैसे काम समाज में प्रेरणादायी है। जहाँ समाज में खासकर दलित समाज में दहेज आवश्यक है। उसी समाज में बिना दहेज के शादी करना आसान तो नहीं रहा होगा लेकिन फिर भी यह उन्हों किया। सुशीला जी का

मानना है कि अन्तरजातीय विवाह से जातिभेद मिट सकता है। अंबेडकर चेतना भी जाति मुक्ति पर आधारित है। स्वयं अंबेडकर दूसरी शादी ब्राह्मणी से करते हैं। जाति मुक्ति में अंतरजातीय शादी भूमिका निभा सकती है। इसकी शुरूआत इन्होंने अपने घर से ही की। अपनी बेटी का अन्तरजातीय विवाह वो भी बौद्ध पद्धति से करवाकर समाज के समाने एक नई मिशाल पेश की है। वह लिखती हैं कि मेरा लेखन मेरी जरूरत है मेरे समाज की जरूरत है। सामाजिक आर्थिक व्यक्तिगत जीवन में कई तरह के शिकंजों का दर्द मैंने सहा है, लेकिन लेखन से मुझे उर्जा मिली है। पहचान दी है मेरा लक्ष्य निर्धारित किया है। इनका लेखन आधार जातिगत अपमान की कचोट और पीड़ा उत्पीड़न की वेदना है। दलित विमर्श के साथ–साथि नारी शोषण की स्थिति को बताने और मुक्ति पाने का आह्वान इनके लेखन का उद्देश्य रहा है। जब तक अन्याय को सहते रहोगे अन्याय उतना ही बढ़ता जायेगा।

दलित लेखन के समग्रगतः अध्ययन करने के बाद निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि पुरूषसत्ता प्रधान समाज में स्त्री शोषण उजागर होता है। आदर्शों के नाम इनके जीवन में शोषण होता रहा है। पुरूष की अपेक्षा नारी अपने जीवन में अधिक समस्याओं का सामना करती है। इस समस्याओं से डटकर यदि वह प्रगति–पथ से पीछे हटेगी तो सफलता प्राप्त नहीं कर सकेगी। दलित लेख नही नारी मुक्ति और नारी प्रेरणा जागृत कर सकता है। सदियों से तिरस्कार और अभावग्रस्त परिस्थितियों में रहने के लिए मजबूर किये गए दलित जीवन की व्यथा लेख में समाहित है। इस लेख का उद्देश्य दर्द देने वाले शिकंजे को तोड़ने का प्रयास है।

संदर्भ–सूचीः–

1. टाकभौरे सुशीला, शिकंजे का दर्द, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण–2020, पृ0– 13
2. टाकभौरे सुशीला, शिकंजे का दर्द, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण–2020, पृ0– 78
3. टाकभौरे सुशीला, शिकंजे का दर्द, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण–2020, पृ0 166
4. टाकभौरे सुशीला, शिकंजे का दर्द, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण–2020, पृ0– 129
5. टाकभौरे सुशीला, शिकंजे का दर्द, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण–2020, पृ0 145
6. टाकभौरे सुशीला, शिकंजे का दर्द, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण–2020, पृ0– 193
7. टाकभौरे सुशीला, शिकंजे का दर्द, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण–2020, पृ0– 69
8. टाकभौरे सुशीला, शिकंजे का दर्द, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण–2020, पृ0– 89
9. टाकभौरे सुशीला, शिकंजे का दर्द, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण–2020, पृ0– 245
10. टाकभौरे सुशीला, शिकंजे का दर्द, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण–2020, पृ0– 22
11. टाकभौरे सुशीला, शिकंजे का दर्द, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण–2020, पृ0–201
12. शिकंजे का दर्द, टाकभौरे सुशीला, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण–2020, पृ0– 65
13. टाकभौरे सुशीला, शिकंजे का दर्द, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण–2020, पृ0–223

समकालीन कहानी में वर्ग संघर्ष

मुकेश कुमार*

शोध सार :

मानव सभ्यता के विकास में समाज की अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका रही है। समाज से ही संस्कृति का जन्म और विकास होता है, तथा संस्कृति के विकास के साथ-साथ मानव सभ्यता भी निरंतर आगे बढ़ती है। समाज की सबसे छोटी इकाई परिवार मानी जाती है। मनुष्य ने अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति और सुरक्षित जीवन के लिए समाज का निर्माण किया। वास्तव में समाज के बिना मानव जीवन की कल्पना करना कठिन है। परिवार से लेकर अंतरराष्ट्रीय स्तर तक मनुष्य का जीवन किसी न किसी रूप में एक-दूसरे पर निर्भर रहता है। यही पारस्परिक संबंध समाज की वास्तविक शक्ति को दर्शाते हैं। समाज में अनेक वर्ग पाए जाते हैं। जहाँ समाज होता है, वहाँ विभिन्न वर्गों का अस्तित्व स्वाभाविक होता है, और जहाँ वर्ग होते हैं, वहाँ संघर्ष की संभावना भी बनी रहती है। आधुनिक युग में बढ़ते पाश्चात्य प्रभाव के कारण सामाजिक और पारिवारिक टकराव तेजी से बढ़ रहे हैं। समाज धीरे-धीरे विखंडित होता दिखाई दे रहा है। संयुक्त परिवार अब एकल परिवारों में बदलते जा रहे हैं।

बीज शब्द : भौतिकवादी, संस्कृति, आत्मनिर्भर, आधुनिक, पाश्चात्य, प्रतिस्पर्धा, संस्कृति।

परिवारों के भीतर भी विचारों और स्वार्थों के आधार पर विभाजन उत्पन्न हो रहे हैं, जिसके कारण पारिवारिक संबंध कमजोर पड़ते जा रहे हैं। आज समाज का स्वरूप तेजी से बदल रहा है। पहले परिवार में महत्वपूर्ण निर्णय बुजुर्गों द्वारा लिए जाते थे, किंतु वर्तमान समय में युवा पीढ़ी अधिक सक्रिय भूमिका निभा रही है। विचारों की भिन्नता के कारण परिवारों में मतभेद और संघर्ष बढ़ते जा रहे हैं। आज का युग प्रतिस्पर्धा का युग बन चुका है, जहाँ व्यक्ति दूसरों को पीछे छोड़कर आगे बढ़ना चाहता है। इस प्रवृत्ति के कारण मानव मूल्य धीरे-धीरे समाप्त होते जा रहे हैं। अब व्यक्ति समाज और सामूहिक हित की अपेक्षा अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को अधिक महत्व देने लगा है। भौतिकवादी जीवनशैली और दिखावे की संस्कृति ने विशेष रूप से युवाओं की मानसिकता को प्रभावित किया है। इसके परिणामस्वरूप सामाजिक वर्ग संघर्ष और अधिक बढ़ रहे हैं। वर्तमान समाज मानव मूल्यों और नैतिक आदर्शों की अपेक्षा आर्थिक लाभ को अधिक महत्व देने लगा है। धन के लोभ में लोग रिश्तों की मर्यादा तक भूल जाते हैं। कभी-कभी स्थिति इतनी गंभीर हो जाती है कि मनुष्य धन के लिए अपने ही संबंधियों के विरुद्ध अपराध करने से भी नहीं हिचकिचाता। आज के समय में संस्कारों और नैतिक मूल्यों का महत्व लगातार कम होता जा रहा है, जिसके कारण समाज में तनाव और टकराव की स्थिति उत्पन्न हो रही है।

हिन्दी शब्द सागर के अनुसार संघर्ष शब्द का अर्थ है "एक चीज का दूसरी चीज के साथ रगड़ खाना / संघर्षण, रगड़ किस्सा। दो विरोधी व्यक्तियों या दलों आदि में स्वार्थ के विरोध के कारण होने वाली प्रतियोगिता या स्पर्धा।"[1]

हिन्दी शब्दकोश के अनुसार संघर्ष का अर्थ है (1) टकराव, स्ट्रगल, (2) स्पर्द्धा, (3) होड़, (4) चेष्टा, प्रयत्न (जीवन संघर्ष) / संघर्ष करते रहना, (5) रगड़ खाना, (6) द्वेष (जैसे पारस्परिक संघर्ष)"[2]। डॉ० यश गुलाटी के अनुसार, "संघर्ष जिंदगी की अनिवार्य शर्त है और अस्तित्व की सुरक्षा और पहचान का एकमात्र औजार भी।"[3] संघर्ष का अर्थ उस सामाजिक प्रक्रिया से है जिसमें दो या दो से अधिक व्यक्तियों का समूह अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आपस में घृणा, द्वेष, हिंसा आदि का प्रदर्शन करने लगता है। गिलिन के अनुसार, "संघर्ष वह सामाजिक प्रक्रिया है,

* शोधार्थी(यूजीसी नेट), बाबासाहेब भीमराव अंबेदकर बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

जिसमें व्यक्ति या समूह अपने विरोधी को हिंसा के भय के द्वारा प्रत्यक्ष आह्वान देकर अपने लक्ष्यों को प्राप्त करते हैं।"[4]

संघर्ष के स्वरूप को स्पष्ट करने से पूर्व विद्वानों द्वारा दी गई इसकी परिभाषाओं का ज्ञान आवश्यक है। उदाहरण के लिए, यदि किसी व्यस्त सड़क पर दो व्यक्तियों के वाहन आपस में टकरा जाते हैं और दोनों को हल्की चोट आ जाती हैं, तो उनके बीच विवाद की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। एक व्यक्ति दूसरे पर दोषारोपण करता है, जबकि दूसरा भी अपने बचाव में तर्क प्रस्तुत करता है। इस प्रकार दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच उत्पन्न विरोध, आरोप-प्रत्यारोप, टकराव, आक्रोश तथा भिड़ंत की स्थिति को संघर्ष कहा जाता है

डॉ० मंजुला गुप्ता ने संघर्ष को द्वन्द्व कहकर परिभाषित किया है। द्वन्द्व' शब्द की रूप-संरचना से ही स्पष्ट है कि दो परस्पर विरोधी वस्तुओं की टकराहट, संघर्ष, कलह को द्वन्द्व कहते है।"[5] समाज के द्वारा बनाए गए जो रीति-रिवाज है परम्पराएं है। जब उनके साथ आज की पीढ़ी अपने विचार उनके साथ नहीं स्थापित कर पाती तो विचारों में आए इसी बदलाव के कारण संघर्ष उत्पन्न होता।

संजीव की कहानी 'मानपत्र' में पारिवारिक और सामाजिक वर्ग संघर्ष का प्रभावशाली चित्रण मिलता है। इस कहानी में यह दिखाया गया है कि आज का मनुष्य अपने अहंकार और स्वार्थ के कारण गुरु-शिष्य परंपरा जैसी महान संस्कृति को भी भूलता जा रहा है। व्यक्ति अपने गुरु से शिक्षा प्राप्त करने के बाद भी उनका सम्मान करने के बजाय उनका अपमान करने से नहीं हिचकिचाता। वर्तमान समय में लोग दूसरों को नीचा दिखाकर आगे बढ़ने की मानसिकता अपनाते जा रहे हैं। इसी कारण वे अपने नैतिक मूल्यों और संस्कारों से दूर होते जा रहे हैं। "प्रत्येक सफल पुरुष के पीछे एक नारी होती है, जबकि हिंदी के उस सफल कवि ने कभी अपनी उस पत्नी की ओर वापस मुड़कर भी नहीं देखा।"[6]

मधु कांकरिया की कहानी 'अठारह साल का लड़का' में आज की युवा पीढ़ी की अधिक पैसे कमाने की चाह और पारिवारिक जिम्मेदारियों के बीच होने वाले संघर्ष को दर्शाया गया है। कहानी का मुख्य पात्र 'टॉबी' विदेश जाकर किसी विदेशी कंपनी में नौकरी करना चाहता है, ताकि वह बेहतर भविष्य और आर्थिक सफलता प्राप्त कर सके। दूसरी ओर उसकी माँ गीता दी उसे विदेश जाने से रोकती हैं, क्योंकि उस समय परिवार को टॉबी की सबसे अधिक आवश्यकता होती है। वह घर का इकलौता सहारा और परिवार की उम्मीद होता है। इसी कारण टॉबी की इच्छाओं और परिवार की अपेक्षाओं के बीच टकराव पैदा होता है, जो कहानी के मुख्य संघर्ष को उजागर करता है। "क्या आई०बी०एम० तुम्हें उससे अधिक देगा, जितना खोकर जा रहे हो तुम वहाँ।"[7]

मैत्रेयी पुष्पा की कहानी 'छाँह' में पारिवारिक और वर्ग संघर्ष का यथार्थपूर्ण चित्रण किया गया है। लेखिका ने यह दिखाया है कि आधुनिक समय में संयुक्त परिवार टूटकर एकल परिवारों में बदलते जा रहे हैं। नई पीढ़ी की मानसिकता अब केवल अपने स्वार्थ और व्यक्तिगत सुख तक सीमित रह गई है। उसे पारिवारिक रिश्तों, परंपराओं और सामूहिक जिम्मेदारियों का पहले जैसा महत्व नहीं रह गया। आज का युवा अपनी स्वतंत्र जीवनशैली को अधिक महत्व देता है और अपनी जिंदगी अपने तरीके से जीना चाहता है। इसी कारण परिवारों में दूरियाँ बढ़ रही हैं तथा आपसी संबंध कमजोर होते जा रहे हैं। कहानी के माध्यम से लेखिका ने बदलते सामाजिक मूल्यों और पारिवारिक विघटन की समस्या को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है। । "चिट्ठी मिलते ही चन्द्रभान भागता-भागता आया था। पिता को धिक्कारने लगा, कोई बात हुई यह भी ! बच्चे हो क्या ? बनियाँ की जात और बसेरा बतासो के घर ।"[8]

गीतांजलि श्री की कहानी 'प्राइवेट लाइफ' में नई और पुरानी पीढ़ी के बीच विचारों का संघर्ष दिखाया गया है। लेखिका ने स्त्री पात्रों के माध्यम से यह बताया है कि समय के साथ महिलाओं की सोच बदल गई है। पहले की स्त्रियाँ परिवार और समाज के नियमों में बंधकर रहती थीं, लेकिन आज की पढ़ी-लिखी महिलाएँ आत्मनिर्भर और

जागरूक हो गई हैं। "यह जरूरी होता है। हमारे समाज में लड़की हमेशा किसी की निगरानी में रहती है। पहले बाप, फिर पति, फिर बेटा उसकी देख-भाल करता है।"[9]

एक दिन जब संजय घर आता है, तो उसके पिता जमनालाल उससे बात करने में घबराने लगते हैं। आखिर में वह अपनी पत्नी से कहते हैं कि वही जाकर संजय से परिवार की समस्या का समाधान निकालने के लिए बात करे। लेकिन संजय की माँ भी उससे बात करने की हिम्मत नहीं जुटा पाती हैं। तुम्हीं क्यों नहीं पूछ लेती ?" "मैं ? न बाबा, मैं ठहरी गँवार ... तुम पूछो।"[10]

समकालीन कहानी में साहित्यकार स्त्री और दलित की बात करते है । लेकिन एक पक्ष अछूता रह जाता है वह है वर्ग संघर्ष । जिसकी बात कुछ ही साहित्यकार समाज के समक्ष करते नजर आते है।

संदर्भ सूची –

1- नेपाली : चिंतन-अनुचिंतन, स. डॉ. सतीश कुमार राय, समीक्षा प्रकाशन, मुजफ्फरपुर (बिहार), प्रथम संस्करण, 2009, पृष्ठ संख्या – 169
2- वही पृष्ठ संख्या- 169 -170
3- अलाव (गोपाल सिंह नेपाली –जन्मशती विशेषांक), स. रामकुमार कृषक, अंक 31 (मार्च-अप्रैल), 2012, पृष्ठ संख्या – 8
4- वही पृष्ठ संख्या 9
5- नेपाली : चिंतन-अनुचिंतन, स. डॉ. सतीश कुमार राय, समीक्षा प्रकाशन, मुजफ्फरपुर (बिहार), प्रथम संस्करण, 2009, पृष्ठ संख्या – 49
6- वही पृष्ठ संख्या 48
7- गोपाल सिंह नेपाली, सं. नन्दकिशोर नंदन, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2013, पृष्ठ संख्या- 11
8- पंचमी, गोपाल सिंह नेपाली, सं. नन्दकिशोर नंदन, साहित्य संसद ,नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011, पृष्ठ संख्या- 22
9- नेपाली : चिंतन-अनुचिंतन, स. डॉ. सतीश कुमार राय, समीक्षा प्रकाशन, मुजफ्फरपुर (बिहार), प्रथम संस्करण, 2009, पृष्ठ संख्या –90
10- वही पृष्ठ संख्या 92
11- हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्री प्रकाशन, नई दिल्ली, (नवीन संस्करण),
12- नेपाली : चिंतन-अनुचिंतन, स. डॉ. सतीश कुमार राय, समीक्षा प्रकाशन, मुजफ्फरपुर (बिहार), प्रथम संस्करण, 2009, पृष्ठ संख्या –140
13- वहीं पृष्ठ संख्या 142
14-सांस्कृत्यायन, राहुल, रूस में पच्चीस मास, राधाकृष्ण पेपरबैक्स, जगतपूरी दिल्ली, पहला संस्करण, 2025,पृष्ठ संख्या- 139
15-सांस्कृत्यायन, राहुल, रूस में पच्चीस मास, राधाकृष्ण पेपरबैक्स, जगतपूरी दिल्ली, पहला संस्करण, 2025,पृष्ठ संख्या- 142
16-नवल, सं. नन्दकिशोर, तरुण कुमार, रामधारी सिंह दिनकर रचनावली, खंड 13, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, द्वितीय संस्करण 2021, पृष्ठ सं- 164
17-वही पृष्ठ सं 163
18-साहनी, बलराज, रूसी सफरनामा, रायसीना प्रिंटर, दिल्ली, पहला संस्करण 1971, पृष्ठ संख्या- 63
19-साहनी, बलराज, रूसी सफरनामा, रायसीना प्रिंटर, दिल्ली, पहला संस्करण 1971, पृष्ठ संख्या- 65-66
20-सांस्कृत्यायन, राहुल, रूस में पच्चीस मास, राधाकृष्ण पेपरबैक्स, जगतपूरी दिल्ली, पहला संस्करण, 2025,पृष्ठ संख्या- 67
21-सांस्कृत्यायन, राहुल, रूस में पच्चीस मास, राधाकृष्ण पेपरबैक्स, जगतपूरी दिल्ली, पहला संस्करण, 2025,पृष्ठ संख्या-77

22-सांस्कृत्यायन, राहुल, रूस में पच्चीस मास, राधाकृष्ण पेपरबैक्स, जगतपूरी दिल्ली, पहला संस्करण, 2025,पृष्ठ संख्या-92
23- गगनांचल, सं. शंकर, रवि, मई-जून 2024, वर्ष :47,अंक-3, पृष्ठ संख्या -53
24-सं. श्यामसुंदर दास, हिंदी शब्दसागर 10वाँ संस्करण, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, 1971, पृष्ठ सं-485
25-सं. हरदेव बाहरी, हिंदी शब्दकोश, पृष्ठ सं 787
26-डॉ. यश गुलाटी, कविता और संघर्ष चेतना, इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम सं 1980, पृष्ठ सं 11
27-डॉ. मोहनलाल रत्नाकर, हिंदी उपन्यास : द्वन्द्व एवं संघर्ष, पृष्ठ सं 3
28-डॉ मंजुल गुप्ता, हिंदी उपन्यास : समाज और व्यक्ति का द्वन्द्व,, सूर्य प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रष्ठ सं 13
29-संजीव, दस प्रतिनिधि कहानियाँ, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2012, पृष्ठ सं 147
30-मधु कंकरिया, दस प्रतिनिधि कहानियाँ, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2013, पृष्ठ सं, 100
31-मैत्रेयी पुष्पा, ललमानियाँ तथा अन्य कहानियाँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2002, पृष्ठ सं 32
32-गीतांजली श्री, अनुगूँज, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय, संस्करण, 2006, पृष्ठ सं 10
33-संजीव, दस प्रतिनिधि कहानियाँ, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2012, पृष्ठ सं 147

प्रेमचंद की कहानियों में निम्नवर्गीय किसान जीवन का यथार्थ

डॉ. आनंद कुमार गोंड*

प्रस्तावना

जनकवि के रूप में प्रसिद्ध मुंशी प्रेमचंद हिन्दी साहित्य के एक महत्वपूर्ण कथाकार, उपन्यासकार और सामाजिक यथार्थवादी रचनाकार थे। उनकी रचनाओं में भारतीय समाज का सजीव, गहरा और वास्तविक चित्रण मिलता है। प्रेमचंद ने अपनी कहानियों, उपन्यासों और अन्य साहित्यिक रचनाओं के माध्यम से विशेष रूप से ग्रामीण समाज, निम्नवर्गीय किसान जीवन, मजदूर वर्ग और उपेक्षित समुदाय की दशा को उजागर किया है।

प्रेमचंद की साहित्यिक दष्टि में समाज का वह वर्ग केन्द्र में है जो सबसे अधिक पीड़ित, शोषित और उपेक्षित है। ये लोग आर्थिक कमजोरी, ऋण, जमीदारी शोषण, सामाजिक असमानता और प्राकतिक आपदाओं से लगातार संघर्ष करते रहते हैं। प्रेमचंद ने इस संघर्ष को अपनी रचनाओं में बहुत ही सजीव और यथार्थपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है।

उनकी प्रसिद्ध कहानियों में **'पूस की रात' 'कफन' 'बड़े घर की बेटी' 'पंचम परमश्वेर' 'दो बैलों की कथा'** और **'ठाकुर का कुआँ'** जैसी रचनाएँ विशेष महत्व रखती हैं। **पूस की रात** में किसान हल्कू की गरीबी, भूख और कठिनाइयों का मार्मिक चित्रण है। **कफन** में अत्यंत निर्धनता और मानवीय संवेदना के पतन को कड़वे यथार्थ के रूप में दिखाया गया है। **ठाकुर का कुआँ** में जातिगत भेदभाव और सामाजिक असमानता पर तीव्र प्रहार किया गया है।

प्रेमचंद के उपन्यासों में भी यह यथार्थवादी दृष्टि स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है। **'गोदान'** में किसान होरी का जीवन भारतीय किसान की समस्याओं का प्रतिनिधि चित्रण है। ऋण, जमिंदारी, गरीबी और समाज की अन्यायपूर्ण व्यवस्था के बीच होरी का जीवन संघर्षरत रहता है। **'सेवासदन'** में नारी जीवन, दहेज प्रथा और समाज सुधार का प्रश्न उभरता है। **'निर्मला'** में दहेज प्रथा के दुष्परिणाम और नारी पीड़ा का मार्मिक चित्रण है। **'रंगमभूमि'** में पूँजीवाद, अंग्रेजी सत्ता और जन–संघर्ष का चित्रण है।

इसी प्रकार प्रेमचंद की रचनाओं में किसानों का जीवन केवल कठिनाइयों से भरा नहीं, बल्कि उसमें मानवीय संवेदना, आत्मबल, धैर्य और जीवन के प्रति संघर्ष की भावना भी निहित है। उनके पात्र गरीबी में भी मानवता, संबंध और नैतिक मूल्यों को बनाए रखते हैं।

प्रेमचंद का यथार्थवाद इस बात पर आधारित है कि साहित्य केवल मनोरंजन का साधन नहीं, बल्कि समाज की वास्तविकता को प्रस्तुत करने और परिवर्तन की चेतना जगाने का माध्यम है। इसी कारण उनकी रचनाएँ पाठक को केवल पढ़ने के लिए नहीं, बल्कि सोचने, समझने और समाज सुधार की दिशा में प्रेरित करती हैं।

इस प्रकार मुंशी प्रेमचंद की कहानियों, उपन्यासों और अन्य साहित्यिक रचनाओं में निम्नवर्गीय किसान जीवन का यथार्थ एक गहरा, सजीव और संवेदनशील रूप में उभरकर सामने आता है, जो हिन्दी साहित्य में उनके विशेष स्थान को स्पष्ट करता है।

आर्थिक कठिनाइयां एवं गरीची का यथार्थपूर्ण चित्रण एवं विस्तृत विश्लेषण

प्रेमचंद की कहानियों में आर्थिक कठिनाइयों का बहुत ही सजीव और यथार्थपूर्ण चित्रण होता है। वे गरीबी, भूख, अभाव और ऋण की समस्याओं को एक कड़वी सच्चाई के रूप में प्रस्तुत करते हैं। उनकी रचनाओं में यह स्पष्ट होता है कि किसान केवल अपनी श्रम का परिणाम नहीं भोगता, बल्कि समाज की अन्यायपूर्ण आर्थिक व्यवस्था के कारण भी पीड़ित होता है। यह व्यवस्था उसे लगातार कमजोर और निर्भर बना देती है।

* सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग, उदित नारायण पी.जी. कॉलेज पडरौना, कुशीनगर
Email Id- anand.hindi91@gmail.com

निम्नवर्गीय किसानों की सबसे बड़ी समस्या यह है कि उन्हें अपनी श्रम का उचित मूल्य नहीं मिल पाता। उत्पादन के बावजूद उन्हें लाभ नहीं मिलता, जिसके कारण वह गरीबी और ऋण के दुष्चक्र में फँसे रहते हैं। प्रेमचंद ने इस स्थिति का बहुत ही मार्मिक चित्रण किया है।

उनकी प्रसिद्ध कहानी **'पूस की रात'** में **हल्कू** की स्थिति यह दर्शाती है कि वह अपनी फसल की रखवाली करते हुए भी भूख और ठण्ड से पीड़ित रहता है। पूरी रात खेत में जागने के बावजूद उसे परिश्रम का उचित फल नहीं मिलता। यह कहानी इस बात को स्पष्ट करती है कि किसान का परिश्रम भी उसे आर्थिक सुरक्षा नहीं दे पाता।

इसी प्रकार **'गोदान'** उपन्यास में **होरी** का जीवन भारतीय किसान की आर्थिक त्रासदी का प्रतिनिधि चित्रण है। होरी अपनी छोटी–सी इच्छाओं को पूरा करने के लिए ऋण में डूबता जाता है और अन्त तक ऋण, जमीदारी, महाजनी शोषण और परिवारिक दायित्वों के बोझ में डूबता रहता है। यह पात्र सिर्फ एक व्यक्ति नहीं, बल्कि लाखों गरीब किसानों का प्रतिनिधि है।

'कफन' में गरीबी की चरम सीमा देखने को मिलती है। **घीसू** और **माधव** जैसे पात्रों के जीवन में निर्धनता इस हद तक बढ़ गई है कि वह मानवीय संवेदना से भी दूर हो गए हैं। बुधिया की मृत्यु पर मिला धन भी वे भोजन में खर्च कर देते हैं। यह कहानी दिखाती है कि अत्यधिक गरीबी मनुष्य के नैतिक मूल्यों को भी क्षीण कर देती है।

प्रेमचंद की कहानियों में **भूख** एक महत्वपूर्ण समस्या के रूप में उभरकर सामने आती है। भूख केवल शारीरिक पीड़ा नहीं देती, बल्कि वह मानव की संवेदना, विचारशक्ति और आत्मसम्मान को भी प्रभावित करती है। **'सवा सेर गेहूँ'** जैसी कहानी में अन्न की कमी और जीवन की विविशता का यथार्थपूर्ण चित्रण मिलता है।

गरीबी का प्रभाव केवल किसान तक सीमित नहीं रहता, बल्कि पूरे परिवार पर पड़ता है। उन्हें शिक्षा, स्वास्थ्य, वस्त्र, आवास और अन्य आधारभूत सुविधाओं से वंचित रहना पड़ता है। **'निर्मला'** उपन्यास में आर्थिक कमजोरी के कारण दहेज जैसी कुप्रथा उत्पन्न होती है, जो नारी जीवन को त्रस्त कर देती है। इस प्रकार प्रेमचंद आर्थिक समस्या को सामाजिक समस्या से जोड़कर देखते हैं।

प्रेमचंद यह भी दिखाते हैं कि आर्थिक कठिनाइयां केवल व्यक्तिगत समस्या नहीं है, बल्कि यह एक व्यापक सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था की कमी का परिणाम है। इसलिए उनका यथार्थवाद समाज की इन कमियों, शोषण, असमानता और अन्याय को उजागर करने का कार्य करता है।

इस प्रकार **मुशी प्रेमचंद** की कहानियों और उपन्यासों में आर्थिक कठिनाइयां और गरीबी का चित्रण एक गहरा, सजीव और यथार्थपूर्ण रूप में उभरकर सामने आता है, जो पाठक को समाज की वास्तविकता का अहसास कराता है और उसे विचार करने के लिए प्रेरित करता है।

ऋण एवं शोषण की समस्या का गहरा यथार्थ एवं विस्तृत विश्लेषण

प्रेमचंद ने अपनी कहानियों और उपन्यासों में किसानों पर बढ़ते **ऋण महाजनी शोषण** और **जमींदारी अन्याय** का बहुत ही गहरा और यथार्थपूर्ण चित्रण किया है। उनकी दृष्टि में भारतीय ग्रामीण समाज का सबसे बड़ा दुःख यह था कि किसान अपनी महत और परिश्रम के बावजूद सुखी जीवन नहीं जी पाता, क्योंकि वह ऋण, ब्याज और शोषण के दुष्चक्र में फँसा रहता है।

निम्नवर्गीय किसान अक्सर अपनी आर्थिक कमजोरी के कारण ऋण लेने के लिए मजबूर होते हैं। कभी बीज, कभी खाद, कभी बीमारी, कभी विवाह, कभी लगान और कभी अन्न के लिए उन्हें महाजनों से ऋण लेना पड़ता है। शुरू में यह ऋण उनकी जरूरत पूरी करने का साधन लगता है, किन्तु धीरे–धीरे वही उनके जीवन का सबसे बड़ा बोझ बन जाता है।

महाजनी व्यवस्था में उच्च बयाज दरों पर दिया गया ऋण किसानों को आर्थिक रूप से और अधिक कमजोर बना देता है। वह साल भर परिश्रम करता है, फसल उगाता है, मेहनत करता है, फिर भी उसका मूल ऋण समाप्त नहीं होता। वह बयाज चुकाता रहता है और ऋण बढ़ता रहता है। इस प्रकार किसान एक अन्तहीन दुष्चक्र में फँस जाता है।

प्रेमचंद के प्रसिद्ध उपन्यास **'गोदान'** में **होरी** का पात्र इस समस्या का सबसे सजीव उदाहरण है। गाय रखने की सामान्य इच्छा से शुरू हुआ ऋण धीरे–धीरे पूरे परिवार के विघटन का कारण बन जाता है। महाजन, लगान, परिवारिक दायित्व और समाज की रीतियों के बीच होरी लगातार टूटता रहता है। यह पात्र भारतीय किसान की त्रासदी का प्रतिनिधि बन जाता है।

इसी प्रकार **'पूस की रात'** में **हल्कू** की दशा भी आर्थिक अभाव और ऋण के कारण दयनीय बनी रहती है। वह ठण्ड में खेत की रखवाली करता है, भूख से परेशान है, फिर भी जीवन में सुख नहीं है। यह कहानी दिखाती है कि किसान का परिश्रम उसे उचित सम्मान और सुरक्षा नहीं दिला पाता।

'सवा सेर गेहूँ' जैसी कहानी में महाजनी स्वभाव और लाभखोरी प्रवृत्ति पर तीव्र व्यंग्य है। सामान्य अन्न को भी लाभ के साधन के रूप में देखा जाता है, जबकि गरीबों के लिए वही जीवन का आधार होता है।

प्रेमचंद ने यह भी दिखाया है कि जमिंदार और महाजन किसान का केवल आर्थिक शोषण नहीं करते, बल्कि उसे सामाजिक रूप से भी नीचा दिखाते हैं। किसान अपने परिश्रम के बावजूद सम्मान से वंचित रहता है। उसे निर्णय लेने का अधिकार नहीं, वह केवल आज्ञाकारी श्रमीक बना दिया जाता है।

ऋण और शोषण का प्रभाव केवल धन पर नहीं पड़ता, बल्कि मन पर भी पड़ता है। यह किसानों के **आत्मबल आत्मविश्वास** और **जीवन की आशा** को कमजोर कर देता है। गरीबी से परेशान मनुष्य कभी–कभी आंतरिक रूप से भी हार जाता है। **'कफन'** में इसी निर्धनता और हारी हुई मनोवृत्ति का चरम रूप देखने को मिलता है।

प्रेमचंद यह भी स्पष्ट करते हैं कि यह समस्या केवल व्यक्तिगत नहीं है, बल्कि पूरी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था की गम्भीर कमी का परिणाम है। जब तक महाजनी शोषण, जमिंदारी अन्याय और असमानता समाप्त नहीं होगी, तब तक किसान का वास्तविक उत्थान संभव नहीं है।

इस प्रकार **मुशी प्रेमचंद** की कहानियों और उपन्यासों में ऋण और शोषण की समस्या एक गहरा, सजीव और यथार्थपूर्ण रूप में उभरकर सामने आती है, जो निम्नवर्गीय किसानों के जीवन की वास्तविकता को स्पष्ट करती है और पाठक को समाज की इस अन्यायपूर्ण व्यवस्था पर विचार करने के लिए प्रेरित करती है।

प्राकृतिक आपदाएँ एवं किसान जीवन पर उसका प्रभाव का गहरा विश्लेषण

किसानी जीवन मूल रूप से ''प्रकृति पर आधारित जीवन'' है। भारत जैसे कषि–प्रधान देश में वर्षा, मौसम, नदी, भूमि और ऋतु–चक्र किसान के जीवन को सीधे प्रभावित करते हैं। इसलिए सूखा, बाढ़, अतिवर्षा, ओला वष्टि, पाला और अन्य प्राकतिक आपदाएँ किसान के लिए केवल मौसमी घटनाएँ नहीं, बल्कि जीवन–मरण के प्रश्न बन जाती हैं। **मुशी प्रेमचंद** ने इस यथार्थ को अपनी कहानियों और उपन्यासों में बहुत ही गहराई से प्रस्तुत किया है।

निम्नवर्गीय किसान प्राकृतिक परिस्थितियों पर पूरी तरह निर्भर रहता है। उसके पास न तो पर्याप्त पूँजी होती है, न सिंचाई के साधन, न भण्डारण, न बीमा, न आपदा से बचने की व्यवस्था। यदि समय पर वर्षा न हो, तो बीज सूख जाता है, और यदि अतिवर्षा या बाढ़ आ जाए, तो खेत और खलिहान दोनों बह जाते हैं। इस प्रकार किसान का पूरा परिश्रम एक क्षण में नष्ट हो सकता है।

प्रेमचंद के उपन्यास **'गोदान'** में इस समस्या का बहुत मार्मिक चित्रण है। **होरी** की सादी जीवन–यात्रा दिखाती है कि किसान की आर्थिक कमजोरी के साथ प्राकृतिक असमानता भी उसे लगातार तोड़ती रहती है। कभी फसल की चिन्ता, कभी मौसम की मार, कभी लगान की मांग इन सब के बीच होरी का जीवन संघर्ष का प्रतीक बन जाता है।

इसी प्रकार **'पूस की रात'** में **हल्कू** का पात्र किसान के मौसमी दुःख का सजीव चित्रण है। भारी ठण्ड, खेत की रखवाली, भूख और थकान के बावजूद वह रातभर जागता है, क्योंकि फसल ही उसके जीवन का आधार है। यह कहानी बताती है कि प्राकृतिक कठिनाइयाँ केवल आर्थिक समस्या नहीं, बल्कि शारीरिक और मानसिक पीड़ा भी हैं।

प्रेमचंद की कई कहानियों में सूखा और बाढ़ केवल परिवेश नहीं, बल्कि समाज की विफल व्यवस्था के प्रतीक के रूप में भी दिखाई देते हैं। जब प्राकृतिक आपदा आती है, तब सबसे पहले गरीब और किसान ही प्रभावित होता है, क्योंकि उसके पास संरचनात्मक सुरक्षा नहीं होती।

प्राकृतिक आपदाओं का प्रभाव किसान के परिवार पर भी पड़ता है। घर में भूख, कपड़े की कमी, बचों की शिक्षा में बाधा, बीमारी का उपचार नहीं, ऋण का बोझ और सामाजिक अपांनता जैसे परिणाम सामने आते हैं। इस तरह आपदा केवल खेत को नहीं, पूरे परिवार को प्रभावित करती है।

प्रेमचंद यह भी दिखाते हैं कि प्राकृतिक आपदाएँ अक्सर **महाजनी शोषण** को और बढ़ा देती हैं। जब फसल नष्ट होती है, तब किसान महाजन से ऋण लेता है, बयाज बढ़ता है, और वह आर्थिक गुलामी की ओर धकेला जाता है। अतः आपदा और ऋण एक दूसरे से जुड़ी समस्याएँ बन जाती हैं।

इस प्रकार मुशी प्रेमचंद की कहानियों और उपन्यासों में प्राकृतिक आपदाएँ और किसान जीवन का चित्रण एक गहरा, सजीव और यथार्थपूर्ण रूप में उभरकर सामने आता है, जो ग्रामीण भारत की वास्तविकता को स्पष्ट करता है और पाठक को सोचने पर मजबूर करता है।

मानवीय संवेदना एवं संघर्ष का सजीव चित्रण एवं गहरा विश्लेषण

प्रेमचंद की कहानियों में किसानों और निम्नवर्गीय समाज का जीवन केवल दुःख, गरीबी और अभाव तक सीमित नहीं है। उन्होंने उनके **संघर्ष**, **आत्मबल**, **मानवीय संवेदना** और **जीवन–जिजीविषा** का भी बहुत ही मार्मिक चित्रण किया है। यही कारण है कि उनका साहित्य केवल यथार्थवादी नहीं, बल्कि मानवीयता से भरा हुआ भी है।

निम्नवर्गीय किसान अपनी आर्थिक कमजोरी, प्राकृतिक आपदाओं, महाजनी शोषण और सामाजिक असमानता के बावजूद जीवन से हार नहीं मानता। वह अपने परिवार के लिए निरन्तर परिश्रम करता है और कठिनाइयों के बावजूद जीना जानता है। प्रेमचंद ने इस अटूट जीवन–शक्ति को बहुत सजीव रूप दिया है।

'पूस की रात' में **हल्कू** भूख और ठण्ड से परेशान होने पर भी अपनी फसल की रखवाली करता है। यह उसके संघर्ष, कर्तव्यनिष्ठाता और जीवन के प्रति जिजीविषा का प्रतीक है।

'पंचम परमश्ेवर' में प्रेमचंद ग्रामीण जीवन की मानवीय संवेदना, मित्रता और न्यायप्रियता का सुन्दर चित्रण करते हैं। जब पंचायत में निर्णय का समय आता है, तब व्यक्तिगत संबंधों से ऊपर उठकर सत्य और न्याय को महत्व दिया जाता है। यह कहानी दिखाती है कि सामान्य ग्रामीण मनुष्य के अन्दर भी नैतिक ताकत होती है।

'बड़े घर की बेटी' में परिवारिक संबंधों, त्याग, सहनशीलता और स्त्री की संवेदना का चित्रण है। यह कहानी बताती है कि प्रेमचंद के पास मानवीय मूल्यों को देखने की गहरी दृष्टि थी।

'कफन' में संवेदना का एक विषाद रूप देखने को मिलता है। गरीबी और अभाव इस हद तक बढ़ गया है कि घीसू और माधव जैसे पात्रों के भीतर की सामान्य मानवीय प्रतिक्रियाएँ भी सुन्न पड़ गई हैं। यह कहानी दिखाती है कि गरीबी केवल शरीर नहीं, मन को भी तोड़ देती है।

प्रेमचंद की दृष्टि में संघर्ष मानव जीवन का आवश्यक भाग है। संघर्ष ही मनुष्य को मजबूत बनाता है और उसे जीवन की सच्चाइयों से परिचित कराता है। उनके पात्र रोते भी हैं, गिरते भी हैं, पर पूरी तरह टूटते नहीं।

इसी के साथ प्रेमचंद मानवीय संवेदना को समाज की सबसे बड़ी पूँजी मानते हैं। वे दिखाते हैं कि कठिनाइयों के बावजूद मनुष्य के अन्दर दया, सहानुभूति, सहयोग और प्रेम बचा रहता है। यही संवेदना समाज को एक साथ जोड़कर रखती है।

इस प्रकार मुशी प्रेमचंद की कहानियों में मानवीय संवेदना और संघर्ष का चित्रण एक गहरा, सजीव और यथार्थपूर्ण रूप में उभरकर सामने आता है, जो पाठक को केवल विचार नहीं, बल्कि अनुभूति भी कराता है।

सामाजिक असमानता एवं वर्ग–भेद का यथार्थपूर्ण चित्रण एवं विस्तृत विश्लेषण

मुशी **प्रेमचंद** की कहानियों में भारतीय समाज के अन्दर व्याप्त **सामाजिक असमानता**ए **वर्ग–भेद जातिगत, ऊँच–नीच**, **आर्थिक विषमता** और **मानवीय शोषण** का बहुत ही सजीव और यथार्थपूर्ण चित्रण मिलता है। उनका साहित्य केवल कहानी नहीं, बल्कि समाज का सजीव दस्तावेज प्रतीत होता है। उन्होंने समाज के उस वर्ग को अपने साहित्य के केन्द्र में रखा जो सबसे अधिक पीड़ित, उपेक्षित और वंचित था किसान, मजदूर, दलित, स्त्रियाँ और निम्नवर्गीय ग्रामीण समाज।

प्रेमचंद ने यह स्पष्ट किया है कि समाज में ऊँच–नीच का भेद केवल धन या गरीबी के आधार पर नहीं, बल्कि जाति, पद, परंपरा और सांस्कृतिक अधिकारों के आधार पर भी टिका हुआ है। ऊँचे वर्ग के लोग सुविधाएँ, सम्मान और सत्ता के अधिकारी थे, जबकि निम्न वर्ग के लोग परिश्रम के बावजूद उपेक्षा और अन्याय का जीवन जीने थे। यही वर्ग–भेद उनकी कहानियों का महत्वपूर्ण विषय है।

उपन्यास **'गोदान'** इस दृष्टि से प्रेमचंद की सबसे महत्वपूर्ण रचना है। इसमें **होरी** और **धनिया** के माध्यम से किसान जीवन की विषमता और वर्ग–भेद का गहरा चित्रण मिलता है। होरी पूरा जीवन परिश्रम करता है, फिर भी ऋण, लगान, महाजनी शोषण और सामाजिक अपंगता से मुक्त नहीं हो पाता। दूसरी ओर जमींदार, महाजन और शहरी सम्पन्न वर्ग सुख–सुविधा का जीवन जीने हैं। यह अंतर समाज की असन्तुलित संरचना को स्पष्ट करता है।

'कफन' में वर्ग–भेद और गरीबी की चरम सीमा देखने को मिलती है। **घीसू** और **माधव** जैसे पात्र समाज के अंतिम पायदान पर खड़े हैं, जहाँ उन्हें न सम्मान मिलता है, न आवश्यक सुविधाएँ। गरीबी इस हद तक बढ़ गई है कि उनकी मानवीय संवेदनाएँ भी कुंठित हो गई हैं। यह कहानी केवल दो व्यक्तियों की कथा नहीं, बल्कि एक अन्यायपूर्ण समाज की आलोचना है।

'पंचम परमश्ेवर' में प्रेमचंद सामाजिक समानता और न्याय की संभावना को प्रस्तुत करते हैं। पंचायत में जब निर्णय का समय आता है, तब मित्रता, वर्ग और व्यक्तिगत संबंधों से ऊपर उठकर सत्य को महत्व दिया जाता है। यह कहानी बताती है कि समाज में न्याय और समानता की चेतना विकसित की जा सकती है।

'ठाकुर का कुँआँ' में जातिगत वर्ग–भेद का बहुत तीक्ष्ण चित्रण है। पानी जैसी मूलभूत आवश्यकता पर भी ऊँची जाति का अधिकार दिखाया गया है, जबकि निम्न जाति के लोग वंचित रखे गए हैं। यह कहानी समाज के अन्दर व्याप्त भेदभाव को उजागर करती है।

'सद्गति' में दलित जीवन की पीड़ा और सामाजिक उपेक्षा का मार्मिक चित्रण मिलता है। दुखी जैसे पात्रों के माध्यम से प्रेमचंद दिखाते हैं कि किस प्रकार निम्न वर्ग का मनुष्य परिश्रम के बावजूद सम्मान से वंचित रह जाता है।

प्रेमचंद यह भी दिखाते हैं कि सामाजिक असमानता का प्रभाव केवल आर्थिक जीवन तक सीमित नहीं रहता, बल्कि शिक्षा स्वास्थ्य, सम्मान, अवसर और मानसिक विकास पर भी पड़ता है। निम्नवर्गीय परिवारों के बच्चे शिक्षा से दूर रह जाते हैं, स्त्रियाँ दोहरे शोषण का शिकार होती हैं और गरीबी पीढ़ी दर पीढ़ी चली जाती है।

उनकी रचनाओं में वर्ग–भेद केवल एक समस्या नहीं, बल्कि समाज के समक्ष एक गम्भीर चुनौती के रूप में सामने आता है। प्रेमचंद इस चुनौती का समाधान **समानता**, **न्याय श्रम के सम्मान**, **शिक्षा** और **मानवीयता** में देखते हैं। वे पाठक को इस बात के लिए प्रेरित करते हैं कि समाज का सही विकास तब ही संभव है जब सभी वर्गों को समान अवसर और अधिकार प्राप्त हों।

इस प्रकार मुशी प्रेमचंद की कहानियों में सामाजिक असमानता और वर्ग–भेद का चित्रण एक गहरा, सजीव और यथार्थपूर्ण रूप में उभरकर सामने आता है, जो समाज की वास्तविकता को स्पष्ट करते हुए परिवर्तन की आवश्यकता को रेखांकित करता है।

भाषा एवं शैली का यथार्थवादी एवं साहित्यिक विश्लेषण

मुशी **प्रेमचंद** की भाषा और शैली उनके साहित्य की सबसे बड़ी शक्ति है। उनकी रचनाओं का प्रभाव इसलिए गहरा है क्योंकि उन्होंने भाषा को जीवन से जोड़ा, न कि केवल अलंकार से। उनकी भाषा **सरल, सहजा, बोलचाल के निकट और जीवन से जुड़ी हुई** है। यही कारण है कि उनकी कहानियां गाँव के सामान्य पाठक से लेकर शिक्षित शहरी पाठक तक सभी को समान रूप से स्पर्श करती हैं।

प्रेमचंद ने कठिन, संस्कतनिष्ठ और अति कृत्रिम शब्दों के स्थान पर व्यवहार में आने वाली भाषा का प्रयोग किया। उन्होंने उसे साहित्यिक गरिमा भी दी और लोक जीवन से जोडकर बनाये रखी। इसी कारण उनकी कहानियों को पढ़ते समय लगता है कि ये पात्र हमारे आसपास के ही लोग हैं।

उनकी शैली में **यथार्थवाद** का विशेष प्रभाव देखने को मिलता है। वे जीवन की वास्तविक परिस्थितियों को बिना किसी कत्रिम सजावट के सीधे और स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करते हैं। गरीबी, भूख, ऋण, किसान का संघर्ष, स्त्री की पीड़ा, जाति–भेद, वर्ग–भेद आदि विषयों को उन्होंने अतिनाटकीय बनाने के बजाय सच्चाई के साथ लिखा। यही उनके यथार्थवादी दष्टिकोण की पहचान है।

कहानी **'पूस की रात'** में ठण्ड से काँपता **हल्कू** खेत की रखवाली, भूख और अभाव का चित्रण ऐसे होता है कि पाठक उस रात की थरथराहट महसूस करने लगता है। यह प्रेमचंद की चित्रण–कला और यथार्थवादी शैली का उत्कृष्ट उदाहरण है।

'कफन' में घीसू और माधव के संवाद बहुत सजीव और मार्मिक हैं। उनके संवादों के माध्यम से गरीबी, संवेदनाहीनता और समाज की विडंबाना उभरकर सामने आती है। यह दिखाता है कि प्रेमचंद संवाद के द्वारा पात्रों की मनोदशा और सामाजिक दशा दोनों स्पष्ट कर देते हैं।

प्रेमचंद की शैली की एक बड़ी विशेषता **संवाद–योजना** है। पात्रों के बातचीत का ढंग उनकी आयु, वर्ग, शिक्षा परिवेश और स्वभाव को बता देता है। **'पंचम परमश्ेवर'** में ग्रामीण पंचायत की बोल–चाल और न्याय की गम्भीरता दोनों एक साथ दिखाई देते हैं।

उनकी भाषा में **संवेदनशीलता** और **व्यंग्य** का सुन्दर समन्वय मिलता है। जहाँ एक ओर वे पीड़ित मनुष्य के दुःख से पाठक का मन भर देते हैं, वही दूसरी ओर समाज की विसंगतियों पर तीखा व्यंग्य भी करते हैं। **'नमक का दरोगा'** जैसी कहानियों में प्रशासनिक भ्रष्टाचार पर यह व्यंग्य स्पष्ट दिखाई देता है।

प्रेमचंद की भाषा में **ग्रामीण जीवन की झलक** बहुत सजीव रूप से मिलती है। गाँव की बोली, लोक–वाक्य, लोकविश्वास, परिवारिक संबंध और देशी मुहावरे उनकी रचनाओं को स्वाभाविक बनाते हैं। **'गोदान'** में ग्रामीण जीवन की भाषा, बोलचाल और परिवेश का जो चित्रण है, वह इस दृष्टि से अद्भुत है।

उनकी शैली का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू **संक्षेपता और स्पष्टता** है। वे कम शब्दों में गहरी बात कह देते हैं। किसी दृश्य, पात्र या समस्या को अनावश्यक विस्तार के बिना इस तरह प्रस्तुत करते हैं कि वह पाठक के मन पर गहरा प्रभाव छोड़ दे।

इस प्रकार मुशी प्रेमचंद की भाषा और शैली उनके साहित्य के यथार्थवादी स्वरूप को और अधिक सजीव, प्रभावी और मानवीय बनाती है। उनकी भाषा पाठक को केवल कहानी नहीं पढ़ाती, बल्कि समाज की वास्तविकता से सीधे जोड़ देती है।

निष्कर्ष

इस प्रकार स्पष्ट है कि मुशी प्रेमचंद की कहानियों में निम्नवर्गीय किसान जीवन का एक सजीव, गहरा और यथार्थपूर्ण चित्रण प्रस्तुत होता है। उनका साहित्य केवल मनोरंजन का साधन नहीं, बल्कि समाज की वास्तविकता का दस्तावेज है। उन्होंने अपनी कहानियों और उपन्यासों के माध्यम से यह दिखाया कि किसान वर्ग केवल आर्थिक रूप से कमजोर नहीं, बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक स्तर पर भी उपेक्षित रहा है।

उनकी रचनाओं में **आर्थिक कठिनाइयां**, **ऋण**, **महाजनी शोषण** ''प्राकतिक आपदाएँ'', ''वर्ग–भेद'', ''जातिगत असमानता'' और ''मानवीय संघर्ष'' जैसे कई पहलुओं का गहरा विश्लेषण मिलता है। '''गोदान''' में किसान जीवन की त्रासदी, '''पूस की रात''' में अभाव और परिश्रम, '''कफन''' में गरीबी की चरम स्थिति, '''पंचम परमश्ेवर''' में न्याय चेतना, तथा '''ठाकुर का कुँआँ''' में सामाजिक भेदभाव का मार्मिक चित्रण उनकी साहित्यिक दृष्टि को स्पष्ट करता है।

संदर्श ग्रन्थ सूची

1. गोदान, लेखक – प्रेमचंद, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. मानसरोवर (भाग 1–8), लेखक – प्रेमचंद, राजकमल प्रकाशन।
3. प्रेमचंद की चयनित कहानियां, लेखक – प्रेमचंद।
4. प्रेमचंद रचनावली, संपादक – रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन।
5. प्रेमचंद और उनका युग, लेखक – रामविलास शर्मा।
6. प्रेमचंद का साहित्य और समाज, लेखक – नामवर सिंह।
7. हिन्दी साहित्य का इतिहास, लेखक – आचार्य रामचंद्र शुक्ल।
8. हिन्दी साहित्य का इतिहास, लेखक – हजारी प्रसाद द्विवेदी।
9. आधुनिक हिन्दी साहित्य, लेखक – रामविलास शर्मा।
10. प्रेमचंद की कहानियों का आलोचनात्मक अध्ययन, लेखक – डॉ. नगेन्द्र।
11. प्रेमचंद का कथा साहित्य, लेखक – विश्वनाथ त्रिपाठी।
12. हिन्दी कहानी का इतिहास, लेखक – नामवर सिंह।
13. हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, लेखक – नगेन्द्र।
14. भारतीय ग्रामीण समाज और किसान, लेखक – डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी।
15. भारतीय समाज की संरचना, लेखक – डॉ. रामविलास शर्मा।
16. प्रेमचंद और ग्रामीण जीवन, लेखक – विश्वनाथ त्रिपाठी।
17. हिन्दी साहित्य और यथार्थवाद, लेखक – नामवर सिंह।
18. प्रेमचंद की कहानियों में यथार्थवाद, लेखक – डॉ. नगेन्द्र।
19. भारतीय साहित्य और समाज, लेखक – रामविलास शर्मा।
20. प्रेमचंद का समाज दर्शन, लेखक – डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी

लोककथाओं में कल्पना एवं लोकचेतना

नम्रता अलेन्द्र*
डॉ. दीपशिखा पटेल**

लोककथाएँ समाज की अमूल्य धरोहर है। लोककथा मानव की काल्पनिक व वास्तविक घटना दोनों से संबंध रखती है, जो क्षेत्र विशेष की लोक मान्यताओं के आधार पर बनी होती है। ये न केवल मनोरंजन का माध्यम है, बल्कि जीवन–दर्शन, नैतिक मूल्यों और सामाजिक अनुभवों का जीवंत संग्रह भी प्रस्तुत करती है। लोककथाओं की सबसे विशेष बात यह है कि इनमें कल्पना और बुद्धि का संगम देखने को मिलता हैं यही समन्वय इन्हे शिक्षाप्रद, रोचक और प्रभावशाली बनाता है।

(1) लोककथाओं का स्वरूप और महत्व :–

लोककथाएँ मौखिक रूप से पीढ़ीयों द्वारा एक दूसरे से रूपान्तरित हो रही है जिसमें समाज के अनुभव, मान्यताएँ, विश्वास और जीवन शैली समाहित होते हैं ये किसी लेखक की रचना नहीं होती बल्कि सामूहिक चेतना का परिणाम होती है। इनमें कल्पना के माध्यम से चमत्कारिक घटनाएं, अद्‌भुत पात्र और अलौकिक शक्तियाँ दिखाई जाती है। जबकि बुद्धि के माध्यम से जीवन के व्यवहारिक और नैतिक पक्षों की शिक्षा दी जाती है।

''लोक–कथाएँ नाना रूपों में लोक–जीवन पर छाये हुए हैं। आदिकाल से वे हमारे साथ हैं। देश में सर्वत्र उनका निर्बाध निवास है। मानव के सुख–दुःख, प्रीत–श्रृंगार, वीर–भाव और बैर इन सब ने खाद बनकर लोक–कथाओं को पुष्ट किया है। रहन–सहन, रीति–रीवाज, धार्मिक विश्वास, पूजा–उपासना, इन सबसे कहानी का ठाठ बनता और बदलता रहता है। कहानी मनुष्य के लिए अपूर्व विश्रान्ति का साधन है। मन के आयास हटाने के लिए कहानी मानव समाज का प्राचीन रसायन है। आज भी उसकी इस विशेषता और उपयोगिता में अंतर नहीं पड़ा। मानव के मन में जो शाश्वत बाल भाव है उसकी भाषा, उसका साहित्य, उसकी भावभिव्यक्ति कहानी है, संसार का साहित्य कथा कहानियों से भरा हुआ है। इसी प्रकार लोक जीवन भी कथा–कहानियों का भण्डार है।''

लोककथाओं में कल्पना एवं बुद्धि :–

कल्पना लोककथाओं को नीरस व साधारण होने से बचाती है, व उन्हें रोचक बनाने का काम करती है। वैसे ही बुद्धि उसे सार्थक और शिक्षाप्रद बनाती है। लोककथाओं में कल्पना अलौकिक तत्वों का प्रयोग करती है, जैसे लोककथाओं में राक्षस, जादूगर, बोलने वाले जानवर, परियाँ आदि पात्र विद्यमान होते हैं। जहाँ श्रोता या पाठक को कथा रोचक व मजेदार लगती है, जिससे कथाएं, मनोरंजन का साधन भी बनती है। कथाओं मे कई ऐसे कल्पनाएँ है, जो कहानी में असंभव को संभव बनाती है। वहाँ लोककथाओं में बुद्धि कल्पना के स्थान पर चतुराई और समझदारी का प्रयोग करती है, जिससे समस्या समाधान की क्षमता विकसित होती है। लोककथाओं में बुद्धि नैतिक शिक्षा व सही–गलत का अंतर सिखाती है। जैसे कहानियों में ईमानदारी परिश्रम और बुद्धिमता से सफलता मिलती है।

उदाहरण :–

लोककथा :– मगर की मूर्खता

(मित्रता में विष्वासघात)

एक नदी किनारे वृक्ष पर एक बंदर रहता था। बंदर अकेला था। वह वृक्ष के मीठे–मीठे फलों को खाता और आनंदमय जीवन बिताया करता था। मन में कोई चिंता तो रहती नहीं थी, इसलिए बड़ा स्वस्थ रहता था।

एक दिन भोजन की खोज में एक मगर नदी के किनारे पहुंचा। बंदर ने मगर को देखकर उससे पूछा, ''तुम कौन हो भाई? कहां रहते हो?''

मगर ने उत्तर दिया, ''मैं मगर हूं। मेरा घर नदी के उस पार है।''

---

* शोधार्थी

** शोध निर्देशिका

बंदर फल खा रहा था। उसने मगर से पूछा, ''क्या तुम भी खाओगे?''

बंदर ने चार–पांच फल नीचे गिरा दिए। मगर ने उन फलों को खाकर कहा, ''वाह–वाह, यह तो बड़े मीठे हैं।''

बंदर ने कहा, ''और खाओगे?''

मगर ने उत्तर दिया, ''दोगे, तो क्यों नहीं खाऊंगा?''

बंदर ने कुछ और फल नीचे गिरा दिए। मगर ने उन फलों को खाकर कहा, ''क्या तुम प्रतिदिन इसी तरह के फल खाते हो?''

बंदर बोला, ''हां, भाई, फल ही मेरा भोजन है। मैं रोज ऐसे फलों को ही खाता हूं।''

मगर बोला, ''यदि मैं कल आऊं, तो क्या तुम कल भी मुझे फल खिलाओगे?''

बंदर ने उत्तर दिया, ''क्यों नहीं खिलाऊंगा?''

मगर दूसरे दिन भी गया और बंदर ने पहले दिन की भांति ही उसे फल खिलाए।

फल यह हुआ, मगर प्रतिदिन जाने लगा और बंदर प्रतिनिद उसे फल खिलाने लगा।

इस प्रकार प्रतिदिन जाने से मगर और बंदर में मित्रता हो गई। मगर प्रतिदिन जाता और बंदर उसे फल खिलाया करता था। दोनों में वार्तालाप भी खूब हुआ करता था।

एक दिन बात ही बात में बंदर ने मगर से कहा, ''भाई, मैं तो अकेला हूं। क्या मेरी भांति तुम भी अकेले हो?''

मगर ने उत्तर दिया, ''नहीं भाई, मैं अकेला नहीं हूं। मेरे घर पर मेरी पत्नी भी है।''

बंदर बोला, ''तुमने मुझे पहले क्यों नहीं बताया? यदि तुम मुझे पहले बताते, तो मैं तुम्हे भाभी के लिए भी फल दिया करता। अच्छा, कोई बात नहीं। आज भाभी के लिए भी फल ले जाओ?''

बंदर ने कुछ और फल तोड़कर गिरा दिए।

मगर ने उन फलों को ले जाकर अपनी पत्नी को दिया। मगर की पत्नी ने फलों को खाकर कहा, ''यह तो बहुत मीठे है। कहां से लाए हो''

मगर बोला, ''नदी के उस किनारे पर एक बंदर रहता है। वह मेरा मित्र है। उसी ने मुझे यह फल दिए हैं। बड़ा भला है। मुझे रोज फल खिलाया करता है।''

मगर की पत्नी बड़ी प्रसन्न हुई। मगर प्रतिदिन फल लाकर अपनी पत्नी को खिलाने लगा। बंदर रोज उसे तो फल खिलाता ही था, उसकी पत्नी के लिए भी फल दिया करता था।

मगर की पत्नी को फल तो मीठे लगते थे, पर उसे मगर और बंदर की मित्रता अच्छी नहीं लगती थी। उसने सोचा, रोज–रोज मगर का बंदर के पास जाना ठीक नहीं है। कहीं ऐसा न हो कि मगर विपत्ति में फंस जाए, क्योंकि वृक्ष पर रहने वाले की मित्रता पानी में रहने वाले से नहीं हो सकती। अतः मगर की पत्नी ने किसी तरह बंदर को फंसाकर मार डालने का निश्चय किया। उसने सोचा, बंदर के मरने पर उसका मीठा–मीठा मांस तो खाने को मिलेगा ही, मगर की मित्रता भी समाप्त हो जाएगी।

एक दिन मगर की पत्नी ने सोचकर उससे कहा, ''बंदर तुम्हें रोज मीठे–मीठे फल खिलाता है और मेरे लिए भी फल भेजता है। तुम भी उसे अपने घर भोजन करने के लिए निमंत्रित करो।''

मगर बोला, ''बंदर को तो तैरना आता नहीं, फिर वह भोजन करने के लिए मेरे घर आएगा तो किस तरह आएगा?''

मगर की पत्नी बोली, ''बंदर तुम्हारा मित्र है। वह तैरना नहीं जानता, पर तुम तो जानते हो। क्या तुम उसे अपनी पीठ पर बिठाकर नहीं ला सकते?''

परंतु पत्नी की बात मगर के गले के नीचे नहीं उतरी। पत्नी प्रतिदिन बंदर को निमंत्रित करने के लिए आग्रह करती, किंतु मगर उसकी बात पर ध्यान नहीं देता था। सच बात तो यह थी कि मगर बंदर को कष्ट नहीं देना चाहता था।

मगर की पत्नी बीमारी का बहाना करके पड़ गई। जब मगर उससे उसका हाल पूछने लगा, तो वह बोली, ''मुझको एक भयानक रोग ने पकड़ लिया है। वह रोग बंदर के कलेजे को छोड़कर और किसी भी दवा से दूर नहीं हो सकता। अतः कहीं से बंदर का कलेजा ले आओ।

मगर चिंतित हो उठा। उसने चिंता–भरे स्वर में कहा, ''यह तो बड़ी कठिन बात है। भला बंदर का कलेजा कहां मिलेगा?''

मगर की पत्नी बोली, ''हां, कठिन बात तो है, पर यदि तुम चाहो तो ला सकते है।''

मगर बोला, ''भला मैं क्यों नहीं चाहूंगा? तुम्हारी बीमारी को दूर करने के लिए, मैं सब कुछ कर सकता हूं। बताओं तो, मैं बंदर का कलेजा कैसे ला सकता हूं।''

मगर की पत्नी बोली, ''तुम्हारा मित्र बंदर है न! तुम उसे मारकर उसका कलेजा ला सकते हो।''

मगर ने बड़े आश्चर्य के साथ कहा, ''तुम यह क्या कह रही हो? जो मित्र मुझे और तुम्हें रोज मीठे फल खिलाता है, मैं उसे मारकर उसका कलेजा ले आऊं?''

मगर की पत्नी ने कहा, ''यदि मुझे मृत्यु से बचाना है, तो बंदर का कलेजा लाना ही पड़ेगा। मित्र तो बहुत से मिल जाएंगे, पर यदि मैं मर गई, तो फिर तुम्हें नहीं मिल सकती।''

मगर ने अपनी पत्नी को बहुत समझाया, पर उसने एक न सुनी। वह बार–बार यही कहती रही, यदि तुम्हें मेरी जिंदगी प्यारी है, तो किसी तरह अपने मित्र बंदर का कलेजा ले आओ।

आखिर मगर करता तो क्या करता? वह विवश हो गया और अपने मन को दबाकर बंदर के पास चल पड़ा। उस दिन मगर कुछ देर में बंदर के पास पहुंचा। बंदर उसे देखते ही बोला उठा, ''क्यों भाई आज देर क्यो की! मैं तो कब से तुम्हारी रह देख रहा हूं।''

मगर कुछ मुँह बनाकर बोला क्या बताऊं मित्र आज मेरी पत्नी ने मुझसे झगड़ा कर लिया। उसे मनाने में देर हो गई। तुम मेरे साथ घर चलो। तुम्हारे समझाने–बुझाने से कदाचित वह मान जाए। चलोगे न।''

बंदर बोला, ''क्यों नहीं चलूंगा? इसी बहाने भाभी को भी देख लूंगा, पर कठिनाई तो यह है कि मैं तैरना नहीं जानता।''

मगर बोला, ''तुम इसकी चिंता मत करो। तुम तैरना नहीं जानते, मैं तो जानता हूं। मेरी पीठ पर बैठ जाओ। मैं तुम्हें अपने घर ले चलूंगा।''

बंदर राजी हो गया। वह वृक्ष से नीचे उतरा और कूदकर मगर की पीठ पर जा बैठा। मगर उसे लेकर बीच धारा की ओर चल पड़ा।

मगर जब बीच धारा में पहुंचा, तो डुबकी लगाने लगा। बंदर आश्चर्य के साथ बोल उठा, यह क्या कर रहे हो, मगर भाई? तुम तो डुबकी लगा रहे हो? तुम्हारे डुबकी लगाने से मैं डूब जाऊंगा।

मगर बोला, ''यही तो मैं चाहता हूं कि तुम डूबकर मर जाओ। वास्तव में बात यह है कि मेरी पत्नी से मेरा झगड़ा नहीं हुआ है। वह बीमार है। उसकी बीमारी बंदर के कलेजे से ही दूर से हो सकती है। मैं तुम्हारे कलेजे के लिए झूठ बोलकर तुम्हें ले आया हूं। अब तो तुम्हे मरना ही पड़ेगा। जब तुम मर जाओगे, तो मैं तुम्हारा कलेजा निकाल दूंगा और अपनी पत्नी को ले जाकर दे दूंगा।''

बंदर सोचने लगा–मगर को मैने मीठे–मीठे फल खिलाए, इसे अपना सच्चा मित्र समझा, पर इसने मेरे साथ आज यह विश्वासघात किया। अब किया जाए तो क्या किया जाए?

बंदर जानता था कि मगर के पास बुद्धि नहीं होती। अतः उसने सोचकर कहा, ''मगर भाई, तुमहारी पत्नी की बीमारी की सुनकर मुझे बड़ा दुःख हुआ है। मैं भाभी की बीमारी को दूर करने के लिए एक नहीं, सौ कलेजे दे सकता हूं। तुमने पहले मुझसे क्यों नहीं कहा? मैं अपना कलेजा लिए आता। दुःख की बात तो यह है कि मैं कलेजे को वृक्ष पर ही छोड़ आया हूं।''

मगर बड़ा मूर्ख था। उसने मूर्खता के कारण बंदर की बात सच मान ली। वह आश्चर्य के साथ बोला, ''क्या कहा तुमने? तुम अपना कलेजा वृक्ष पर छोड़ आए हो?''

मगर ने कहा, ''तो फिर चलो, वृक्ष पर कलेजा ले लो।'' मगर अपनी बात को पूरी करके किनारे की ओर लौट पड़ा। बंदर यही तो चाहता था। वह मन ही मन बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने सोचा, मूर्ख और विश्वासघाती मगर को मैंने अपने बुद्धि से धोखे में डाल दिया है।

मगर जब किनारे पर पहुंचा तो, बंदर उछलकर सूखी धरती पर जा पहुंचा और फिर उछलकर वृक्ष की डाल पर जा बैठा। उसने वृक्ष की डाल पर से मगर से कहा, ''मूर्ख मगर, तू मेरी मित्रता के योग्य नहीं है। तू विश्वासघाती तो है ही, महामूर्ख भी है। भला किसी का कलेजा भी उसके शरीर से अलग रह सकता है। तू मुझे फंसाकर मेरी जान लेना चाहता था, पर मैंने तुम्हें फंसाकर अपनी जान बचा ली। मेरा कलेजा मेरे शरीर में ही था। मैंने तो तुझसे झूठ ही कहा था कि कलेजा मैं वृक्ष पर छोड़ आया हूं। कलेजा यदि वृक्ष पर ही छोड़ आता, तो जीवित कैसे रहता? जा, लौट जा। अब फिर कभी मेरे पास मत आना।''

मगर करता तो क्या करता? वह पश्चाताप करता हुआ अपने घर लौट आया जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरों को नुकसान पहुंचाना चाहता है। उसे इसी तरह पछताना पड़ता है।

कहानी से शिक्षा

मित्रता समझ–बूझकर करनी चाहिए। शाकाहारी और मांसाहारी की मित्रता सुखदायक नहीं होती।

बुद्धिमान मनुष्य सरलता से ही मूर्खो को फंसा लिया करते हैं। जो दूसरों के साथ धोखा करता है, उसे पछताना ही पड़ता है।

कथाओं में कल्पना एवं बुद्धि का समन्वय :–

कल्पना और बुद्धि का संतुलित मेल ही हमें कथाओं में रोचकता, मनोरंजक, व्यवहारिक ज्ञान, सामाजिक चेतना, नैतिक शिक्षा, समस्या समाधान का पाठ सिखाती है। दोनों का मेल ही लोककथाओं को प्रभावशाली बनाता है। इन दोनों के समन्वय से समाज में रचनात्मकता का विकास, नैतिक मूल्यों का निर्माण, बुद्धि और विवेक का विकास एवं सांस्कृतिक पहचान होती है।

''कथाओं में कल्पना का अधिक सहयोग उल्लेख है। फिर भी बुद्धि को इनमें यथोचित महत्व दिया गया है। ऐसी कोई भी लोक–कहानी नहीं है, जो केवल बुद्धिवादी हो अथवा ऐसी कथा नहीं है जिसमें केवल कल्पना ही हो। प्रायः समस्त लोक–कथा साहित्य कल्पना एवं बुद्धि का सहज तथा मनोरम समन्वय है। यदि ऐसा कहा जाये तो उचित ही है।''

''बुद्धि और कल्पना दोनों ही साथ–साथ चलती है। इस संदर्भ में ''अंधे और लूले की कहानी'' उल्लेखनीय है। जिस प्रकार लूला मनुष्य अंधे के अवलम्बन से अपनी मंजिल को पा लेता है और अंधा लूले के संकेतों के सहारे चल कर अपने मंतव्य को प्राप्त करता है, उसी प्रकार कहानी का स्वरूप भी कल्पना और बुद्धि के उपकरणों से निर्मित अपने अस्तित्व को बनाता है, बुद्धि समुत्पन्न विचारों को कल्पना चित्रात्मकता प्रदान करती है। बौद्धिक नीरसता कल्पना का अवलम्बन पाकर सरसता में परिणत हो जाती है। कल्पना एक सुन्दर सांचा है, जिसमें सामान्य विचार भी ढलकर मनोरम बन जाता है। यदि गम्भीरता से विचार किया जाए तो कल्पना यथार्थतः सत्यविहीन है लेकिन परिणामतः सत्य है। यही सत्य, लोककथा की सुन्दर अभिव्यक्ति है।''

निष्कर्ष :–

लोककथाएँ जीवन का दर्पण है, जो नैतिक व सामाजिक मूल्यों का प्रतिबिम्ब दिखाती है। सागर रूपी लोककथाओं में कल्पना और बुद्धि रूपी नदियों का संगम है इन दोनों के संतुलन से ही लोककथाएं सदियों तक जीवंत रहेगी, जो आदि युग से मनुष्य को उल्लाषित करती हुई प्रबुद्ध बना रही है।

सन्दर्भ सूची :–

1. जैन, श्रीचन्द्र. *लोक–कथा विज्ञान.* जयपुरः मंगल प्रकाशन, 1977
2. श्रीवास्तव, राजकुमारी. *पंचतंत्र की श्रेष्ठ कहानियां.* नई दिल्लीः सुनील साहित्य सदन, 2001
3. श्रीवास्तव, राजेश 'शम्बर'. *लोक साहित्य.* भोपालः कैलाश पुस्तक सदन, 2010.
4. उपाध्याय, कृष्णदेव. *लोक संस्कृति की रूपरेखा.* इलाहाबादः लोकभारती प्रकाशन, 1988.
5. शर्मा, श्रीराम. *लोक साहित्य.* आगराः साहित्य सरोवर, 2020.
6. उपाध्याय, कृष्णदेव. *लोक संस्कृति की रूपरेखा.* इलाहाबादः लोकभारती प्रकाशन, 2009.
7. यादव, वीरेन्द्र सिंह. *लोक साहित्य एवं लोक संस्कृतिः परम्परा की प्रासंगिकता एवं सामाजिक परिप्रेक्ष्य.* नई दिल्लीः ओमेगा पब्लिकेशन्स, 2012.